ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका

(A Half-yearly Research Journal)

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

२००४

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका

(A Half-yearly Research Journal)

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

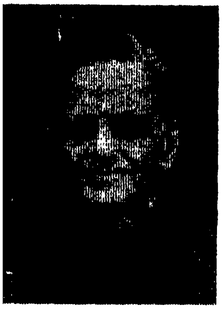
प्रथम अङ्क 2004

सम्पादक-मण्डल

विषय-वस्तु

सुदर्शन अग्रवाल
राज्यपाल, उत्तरांचल

राजभवन
देहरादून 248 003



12 मार्च 2004

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार द्वारा शोध पत्रिका **'गुरुकुल--शोध--भारती'** का प्रकाशन किया जा रहा है।

सर्वविदित है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय प्राच्यविद्या के केन्द्र के रूप में देश–विदेश में प्रतिष्ठित पहचान रखता है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस विश्वविद्यालय द्वारा शोध पत्रिका का प्रकाशन किया जा रहा है। मुझे आशा है कि इस Research Journal में नये–नये अनुसंधानों से सम्बन्धित सभी विषयों पर महत्वपूर्ण, सारगर्भित और ज्ञानवर्द्धक पाठ्य–समग्री का समावेश किया जायेगा।

'गुरुकुल–शोध–भारती' के सफल प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

(सुदर्शन अग्रवाल)

भारत के उप-राष्ट्रपति के विशेष कार्य अधिकारी
नई दिल्ली - 110011

OFFICER ON SPECIAL DUTY
TO THE VICE-PRESIDENT OF INDIA
NEW DELHI - 110011



संदेश

महामहिम उपराष्ट्रपति श्री भैरोंसिंह शेखावत को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,हरिद्वार द्वारा *गुरुकुल -शोध-भारतीय* के प्रथम अंक का प्रकाशन किया जा रहा है,जो सराहनीय प्रयास है। उन्हें आशा है कि इस पत्रिका में विश्वविद्यालय की विभिन्न गतिविधियों का भी समावेश किया जायेगा।

उपराष्ट्रपतिजी विश्वविद्यालय की निरंतर प्रगति की कामना करते हुए इस अवसर पर प्रकाशित शोध पत्रिका के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएं प्रेषित करते हैं।

(के.बी.ठाकुर)

नई दिल्ली
4 मार्च, 2004



शुभकामना संदेश

सुदर्शन शर्मा

कुलाधिपति

यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि गुरुकुल-काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार प्राच्यविद्या के क्षेत्र में होने वाले अनुसन्धान को प्रकाशित करने के लिये 'गुरुकुल-शोधभारती' नाम से एक शोधपत्रिका प्रकाशित करने जा रहा है। मैं इस अवसर पर प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी, कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार तथा आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री को हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित कर रहा हूँ। आशा है यह पत्रिका प्राच्यविद्या के गूढ रहस्यों को जनोपपयोगी बनाने में महती भूमिका का निर्वाह करेगी।

(सुदर्शन शर्मा)

कुलाधिपति

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार.



शुभ-कामना

प्रो. स्वतन्त्र कुमार
कुलपति

किसी भी विश्वविद्यालय की पहिचान उसके शोधकार्य से होती है, उसकी गुणवत्ता का निर्धारण भी शोध के स्तर के आधार पर किया जाता है। अत: ऐसे प्रतिस्पर्द्धात्मक परिवेश में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाने के लिये शोधपत्रिका तथा अन्य शोधपरक गतिविधियों को प्रोत्साहन देना यह न केवल विश्वविद्यालय के हित में है, अपितु सामयिक भी है। अभी कुछ दिन पूर्व की बात है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नियुक्त विशेषज्ञों की एक समिति National Assessment and Accreditation Council (NAAC) ने राष्ट्रीय महत्त्व का संस्थान मानते हुए इस विश्वविद्यालय को चार स्टार प्रदान किये हैं। अब यह हमारे लिये और भी अधिक आवश्यक है कि हम कुछ ऐसा करें, जो शोधपरक हो और जिसे अन्तर्राष्ट्रिय स्तर की मान्यता भी मिले, तभी हम चार स्टार से आगे बढ़कर पाँच स्टार प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते हैं।

यह प्रसन्नता का विषय है कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय प्राच्यविद्या के क्षेत्र में होने वाले शोधकार्यों के प्रकाशन हेतु गुरुकुल-शोधभारती नाम से एक शोधपत्रिका का शुभारम्भ करने जा रहा है। बहुत समय से इस विश्वविद्यालय में शोधकार्यों के प्रकाशन हेतु एक शोधपत्रिका की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। जब यह विषय मेरे समक्ष प्रस्तुत किया गया, तब मैंने तत्काल उक्त प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए यथाशीघ्र अन्य औपचारिकताओं को पूर्ण करने का निर्देश दिया।

मुझे इस अवसर पर अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है और मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रेषित करता हूँ और आशा करता हूँ कि यह पत्रिका अपने नाम के अनुरूप शोध के लिये समर्पित होगी।

(प्रो. स्वतन्त्र कुमार)
कुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.



वाग् ज्योतिः समुज्जृम्भताम्

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री

आचार्य एवं उपकुलपति

समेषां सुमनसां गीर्वाणवाणीगुणार्गणाकलनकलाकलापकुशलानां स्वाध्यायप्रवचनामिताभ्यासरतानां सुमेधावतां विद्वत्तल्लजानां नूनमेवानन्दोन्मेषकरं वृत्तमिदं यत् गुरुकुल-काँगड़ी-विश्वविद्यालये **'गुरुकुल-शोध-भारती'** इत्यभिधाननिर्मला शोधपत्रिका पुनरपि गुरुकुलपरम्परानिर्वाहकानाम् अपरिमितैः प्रयत्नैः संजीविता।

यद्यपि संस्कृतविदुषां सुविदितमिदं यत् विश्वविद्यालयेभ्यो महाविद्यालयेभ्यः शोधपीठेभ्यश्च शोधपत्रिकाः समये समये प्रकाश्यन्ते तासां नीतिरपि विश्वक् प्रसरत्येव तथापि गुरुकुलात् प्रकाश्यमानाया अस्याः पत्रिकाया किमपि विशिष्टं महत्त्वं प्रयोजनञ्च विद्यत एव।

पत्रिकेयं बृहत्यां शोधजगत्यां गेयां महतीं प्रतिष्ठां चिरमवाप्स्यतीति दृढीयान् विद्यते मे संप्रत्ययः।

(प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री)

आचार्य एवं उपकुलपति

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार.



शुभकामनाएँ

प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा
कुलसचिव

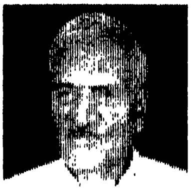
प्राच्य विद्या के क्षेत्र में होने वाले शोधकार्य को प्रकाशित करने के लिये गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, गुरुकुल-शोधभारती नाम से एक शोधपत्रिका प्रकाशित करने जा रहा है। इस अवसर पर मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित कर रहा हूँ। इस शोधपरक पत्रिका के प्रकाशन से शोधरत विश्वविद्यालय के शिक्षकों तथा छात्रों के मौलिक कार्य को विद्वत् समाज के समक्ष प्रस्तुत करने में सहयोग प्राप्त होगा। मुझे आशा नहीं पूर्ण विश्वास है यह पत्रिका जिन सार्थक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर प्रारम्भ की जा रही है, उस दिशा में अवश्य सफल होगी।

इस उत्तम कार्य के लिये मेरी शतश: शुभकामनाएँ।

(प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा)
कुलसचिव
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

ओ३म्

पूर्व उपकुलपति एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग	दूरभाष: १३३४-२५३८४५
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	आचार्य (डॉ.) रामनाथ वेदालङ्कार
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष	विद्यामार्तण्ड
महर्षि दयानन्द वैदिक शोधपीठ	वेदमन्दिर, ज्वालापुर-२४९४०७
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	हरिद्वार (उत्तराञ्चल)



शुभाशंसनम्

प्रिय प्रो. ज्ञानप्रकाशवर्य!

एतद्विज्ञाय परमानन्दमनुभवामि यद्भवदीयकुशलसम्पादकत्वे **'गुरुकुल-शोध-भारती'** नाम्ना षाण्मासिकी शोधपत्रिका गुरुकुलविश्वविद्यालयेन प्रारभ्यते। पूर्वमपि १९७४-७५ ईस्वीयसंवत्सरे मम च डॉ. विष्णुदत्त-राकेशस्य च संयुक्तसम्पादकत्वे शोधभारत्या अङ्कद्वयं संस्कृत-हिन्दी-आंग्लभाषात्मकं प्रकाशितम्, देशे विदेशे च प्रशंसितं चाभूत्। तस्याः पुनरुज्जीवनं सर्वेषां बुद्धिजीविनां कृते हर्षावहमिति मन्ये। किं नाम शोधात्मकं किञ्च नेति निश्चप्रचं वक्तुं न शक्यते। यन्नूतनं नास्ति, किन्तु शोधशैल्या निबद्धं, समाजस्य कृते प्राणदायकं, प्राचीनसंस्कृतिपोषकं च विद्यते, तदपि शोधसंज्ञां लब्धुमर्हति। तद्विपरीतञ्च कामं नूतनं भवेत्, परं मानवोत्थाने विज्ञानवर्द्धने विपत्संत्रस्तसमाजकल्याणकरणे च तस्यं मूल्यं नास्ति चेत्, तन्न शोधात्मकम्। गुरुकुलस्य केचन सिद्धान्ता आदर्शाश्चापि सन्ति येषां परिपालनमुचितम्। कैश्चिल्लेखकैः सर्वोऽपि विषयः परेषां ग्रन्थेभ्यो गृहीत्वा स्वकीयशोधनाम्ना प्रकटीक्रियते, ते छद्मलेखका न प्रोत्साहनीयाः। गुरुकुले बहवो विपश्चितः शोधकर्मणि व्यापृताः सन्ति, तदीयशोधपत्राणि यदि पत्रिकायाः कलेवरं भूषयन्ति, तर्हि गुरुकुलविश्वविद्यालयस्य गौरवं वर्धते, पत्रिकानामसार्थक्यमपि भवति।

अहं गुरुकुलशोधभारत्याः प्रथमोन्मेषावसरे स्वकीयां हार्दिकीं शुभाशंसां भूयो भूयः प्रयच्छामि, पत्रिकाया उज्ज्वलं भविष्यञ्च कामये।

श्रद्धानन्दस्य वरदामाशिषं मूर्ध्नि धारयन्।
सरस्वतीसमर्चायां यत्नतः प्रवणो भव॥

भवदीयः

रामनाथ वेदालङ्कारः

२६-२-०४

बाल ब्रह्मचारी मिशन (रजि०) के तत्वाधान में क्रियाशील



निर्धन निकेतन आश्रम

खड़खड़ी, हरिद्वार (उत्तरांचल), दूरभाष: ४६००४३

अध्यक्ष: श्री १०८ ऋषि केशवानन्द जी महाराज

क्रमांक--------

दिनांक-२६.०२.०४

प्रिय ज्ञान प्रकाश शास्त्री,

आपके सम्पादकत्व में प्राच्यविद्या का केन्द्र गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, अपनी शोधपत्रिका 'गुरुकुल-शोध-भारती' नाम से प्रकाशित करने जा रहा है-यह प्रसन्नता का विषय है।

हमारी प्राच्यविद्या विश्व की समस्त विद्याओं की जननी है। इन विद्याओं के अनुशीलन से मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का कल्याण प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता है आज- उस प्राच्यविद्या में निहित ज्ञानालोक से अपने को तथा समाज को आलोकित करने की। यह कार्य आप जैसे विद्वान् अपने सारगर्भित एवं प्रौढ़ लेखों से इस पत्रिका के माध्यम से कर सकते हैं।

विद्वान् लेखकों और सुधी पाठकों को मेरा सन्देश है कि केवल ज्ञानमात्र से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। **'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'** पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा से इस ज्ञान को अपने आचरण में लायें, तभी पाठकों तथा अन्य श्रद्धालु लोगों को आचरणशील बना सकते हैं, तभी अपने वास्तविक लक्ष्य पर पहुँचने की प्रेरणा मिलने की सम्भावना की जा सकती है।

हमारी एक चाह यही है कि विद्वान् लोग अपने लक्ष्य को न भूलें। इस पत्रिका के प्रकाशकों और सम्पादकों को हार्दिक शुभकामना।

विनीत:

(ऋषि केशवानन्द)

अध्यक्ष बाल ब्रह्मचारी मिशन

निर्धन निकेतन, खड़खड़ी

हरिद्वार.

सम्पादकीयम्

भाषा के जिस रूप से हम परिचित हैं, वह व्यवहार की भाषा है। इसलिये लोक के समान वेद में भी नामकरण शब्द के आधार पर किया गया है।[1] परन्तु व्यवहार आधार होने पर भी वाक् के अनेक स्तर हैं और जो इनके गूढ स्वरूप को जानता है, वह मात्र विद्वान् ही नहीं, वह एक उच्च स्तर का साधक और योगी भी होता है।[2] ऋषि दीर्घतमा ने इसी सत्य का प्रत्यक्ष करते हुए कहा है कि ऋक् के अक्षर में परम व्योम है, इसलिये इसमें समस्त देव समाहित हो जाते हैं।[3] व्याकरण को दर्शन का स्वरूप देने वाले आचार्य भर्तृहरि ने सम्भवतः, वेद के उक्त वचनों को ध्यान में रखते हुए कहा है- **'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्'**[4] कि स्वरूप से अनादि और नाशरहित शब्द ब्रह्मरूप ही है। शब्द के जिस रूप की चर्चा व्याकरण-दर्शन में की जाती है, उसको जानने वाला कोई मनीषी ही हो सकता है[5] अर्थात् जो अपने मन का स्वामी नहीं है, वह इस शब्दब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता। और जो इस शब्दब्रह्म को तात्त्विक रूप से जानता है, उसके समक्ष यह विद्या प्रेयसी के समान विवृत रूप में उपस्थित हो जाती है और कुछ भी ऐसा नहीं रखती, जो फिर उसके लिये गोपनीय हो।[6] जिस तथ्य को भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म के माध्यम से कहा है, उसको वेद संकेत की भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति देता हुआ कहता है कि जो उसको नहीं जानता, उसके लिये वेद की ऋचा का क्या अर्थ है ? और जो उसे जानता है, उसका उसीमें समाहार हो जाता है।[7] व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा शब्द का साकार रूप है और उसके द्वारा जिस प्रतीयमान पदार्थ की अभिव्यक्ति हो रही है, मूलतः अनभिव्यक्त स्वरूप (शब्द की सीमा में न आते हुए भी) वाला होते हुए भी उसकी शब्द के माध्यम से प्रतीति करायी जा रही है। सत्य शब्द नहीं है, सत्य अर्थ है और उसको वैखरी की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। फिर भी उसको शब्द की सीमा में रखने का प्रयास एकाङ्गी और अपूर्ण होते हुए भी अपनी सार्थकता रखता है। दैर्घतमस् सूक्त का एक मन्त्र कहता है कि जब वेद (अनुभवरूप ज्ञान) का समुद्र प्रवाहमान होता है, तब चारों दिशायें जी उठती हैं और उसके उपरान्त वह अक्षर स्वयं क्षरित होता है, जिससे समस्त विश्व जी उठता है।[8] उक्त मन्त्र का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ज्ञान-विज्ञान के प्रयोग से जीवन की चारों दिशायें जीवन्त हो जाती हैं और जब वह विज्ञान अध्यात्म में प्रवेश करता है, तब साक्षात् परब्रह्म का सोमरस बरसने लगता है। जब भी विज्ञान की कोई विधा बहुत आगे निकल जाती है, तब वह अध्यात्म बन जाती है। इसलिये हमारे यहाँ एक सूत्र प्रायः सुनने को मिलता है- यथा अण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' जो एक अणु में है, वही ब्रह्माण्ड में है, जो ब्रह्माण्ड में वही एक अणु में है। जो इस तथ्य का साक्षात्कार कर लेता है। उसके लिये स्व-पर

१. निरु०१.२. 'शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।'

२. ऋ०१.१६४.४५. 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।'

३. ऋ०१.१६४.३९. 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।'

४. वाक्य०१.१.

५. ऋ०१.१६४.४५. 'तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।'

६. ऋ०१०.७१.४. 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥'

७. ऋ०१.१६४.३९. 'यस्तन्न वेद किमृचाकरिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।'

८. ऋ०१.१६४.४२. 'तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति॥'

भेद तिरोहितं हो जाता है, फिर वह दु:ख और शोक से रहित होकर मुक्त अवस्था का अनुभव करता है।[9] महर्षि दयानन्द जैसा व्यक्तित्व ऐसे ही आकार नहीं लेता, दृष्टि में आया भेद ही उनको यह कहने के लिये प्रेरित करता है-**'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि।**[10]

वेद या ज्ञान वह है जो प्रत्यक्ष का विषय बनता है, अनुभूति की कोख से जन्म लेता है, जिसके विषय में यह कहा जा सकता है कि यही सत्य है। आज का विज्ञान भी जिस मापदण्ड को स्वीकार करता है, उसका यही आधार है। प्राच्यविद्या में सत्य की जो परिभाषा और प्रक्रिया स्वीकार की गयी है, विज्ञान में उसको मान्यता नहीं मिली है। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ जहाँ क्यों और कहाँ का उत्तर खोजने का प्रयास किया गया है, वहीं आज भौतिकतावादी विज्ञान कैसे के प्रति समर्पित है। कैसे बना ? उसके लिये इसका उत्तर जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह सही है कि कैसे का उत्तर जानने से समस्याओं के अन्तिम छोर तक नहीं पहुँचा जा सकता, जैसे-H_2O सिद्धान्त बन जाने पर भी जल को नहीं बनाया जा सका है। परन्तु आज की मान्य परम्परा और प्रक्रिया इसी विधि का अनुमोदन करती है। अत: समय के साथ चलने के लिये शोध-प्रविधि का उपयोग अपेक्षित भी है और अपरिहार्य भी।

प्राच्यविद्या के क्षेत्र में अग्रणी यह विश्वविद्यालय आज जब 'गुरुकुल-शोध-भारती' नामक शोधपत्रिका के प्रथम अङ्क का विमोचन करने जा रहा है, तब महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के तृतीय नियम में जो वेद को सत्यविद्याओं की पुस्तक और उसके पढ़ने-पढ़ाने को आर्यों का परम धर्म प्रतिपादित किया है।[11] इस ऋषि वाक्य को विज्ञान की कसौटी पर कसा जाना चाहिये और ऐसा इस विश्वविद्यालय में हो भी रहा है, अत: प्राच्यविद्या की एक ऐसी शोध-पत्रिका की कमी पिछले काफी समय से अनुभव की जा रही है, जो विश्वविद्यालय में होने वाले शोधकार्यों को मुखरित कर सके, विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इससे जहाँ महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों की व्यावहारिक धरातल पर स्वीकार्यता बढ़ेगी, वहीं विश्वविद्यालयस्तरीय शोधकार्यों से इस विश्वविद्यालय की उज्ज्वल आभा और भी अधिक उज्ज्वल को होकर प्रतिभासित हो सकेगी। साथ ही इसके संस्थापकों ने जिस स्वप्न को आधार बनाकर इस विश्वविद्यालय की स्थापना की थी, उसको साकार करने में कुछ न कुछ मदद अवश्य मिलेगी।

विद्वत् समाज के समक्ष 'गुरुकुल-शोध-भारती' के प्रथम अङ्क को प्रस्तुत करते हुए हर्ष होना स्वाभाविक है। विद्वद्वरेण्य, वेदविद्या के मर्मज्ञ, परम श्रद्धेय, पूज्य गुरुवर आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार ने इस पत्रिका का बीजारोपण १९७४-७५ में 'शोधभारती' ने नाम से किया था और उस समय इसके दो अङ्क निकले भी थे, उसीको आधार बनाकर प्रस्तुत शोध-पत्रिका का नामकरण 'गुरुकुल-शोध-भारती' किया गया है।

९. यजु०४०.७. 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
१०. तै०आ०७.१. सत्यार्थ-प्रकाश, प्रथमसमु०।
११. आर्यसमाज के नियम।

किसी पत्रिका का नाम शोधपत्रिका नाम रख देने मात्र से कोई पत्रिका शोधपरक नहीं हो जाती। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की गुणवत्ता निर्धारण करने के लिये गठित NAAC कमेटी ने केवल उन्हीं पत्रिकाओं को शोधपरक माना है, जिनमें निर्णायक विद्वानों के द्वारा परीक्षित निबन्ध प्रकाशित किये जाते हैं, अत: उक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय किया गया है कि इस पत्रिका में वही निबन्ध प्रकाशित हो सकेंगे, जिनका मूल्याङ्कन विद्वान् निर्णायकों द्वारा करा लिया जायेगा। इसके साथ ही विद्वत् समाज से यह भी अपेक्षा है कि वे ऐसे निबन्ध प्रस्तुत करें, जो मौलिक होने के साथ-साथ प्रकाशित न हुए हों। किसी विद्वान् की कृति/निबन्ध को आंशिक परिवर्तन अथवा परिवर्तन के विना प्रकाशित के लिये भेजना न केवल बौद्धिक अपराध है, अपितु उस विद्वान् की अपनी प्रतिभा का भी हनन है। इसके अतिरिक्त भी विद्वानों से एक विनम्र निवेदन है कि उक्त निबन्ध निर्णय हेतु प्रेषित किये जाने हैं, अत: वे अपने निबन्ध कम्प्यूटरीकृत टङ्कण कराकर प्रस्तुत करें, जिससे अशुद्धियों की सम्भावना क्षीण हो जाये।

इस पत्रिका का अस्तित्व में आना मात्र एक संयोग नहीं है। इस विश्वविद्यालय के श्रद्धेय कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी के चिन्तन की दिशा यह रही है कि जहाँ यह विश्वविद्यालय उच्चशिक्षा में गुरुकुलीय कसौटी पर खरा उतरना चाहिये, वहीं उनका यह प्रयास भी रहा है कि इस विश्वविद्यालय में महर्षि की दृष्टि को आधार बनाकर गम्भीर शोधकार्य हों और वे प्रकाशित भी हों, जिससे शोध के क्षेत्र में इस विश्वविद्यालय की अपनी एक विशिष्ट पहिचान बन सके। इसी सदुद्देश्य के लेकर वे संस्कृत एवं संस्कृति के लिये पूर्णरूपेण समर्पित श्रद्धेय आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री के ब्रह्मत्व में इस वाग्यज्ञ को आगे बढ़ा रहे हैं।

सृष्टि का नियम है कि कोई भी कार्य एक के प्रयास से अस्तित्व में नहीं आता है। इस शोधपत्रिका के अस्तित्व में आने में विश्वविद्यालय के केन्द्रीय कार्यालय की महती भूमिका रही है। माननीय कुलसचिव प्रो. ए.के. चोपड़ा तथा पूर्व वित्ताधिकारी श्री जयसिंह गुप्ता ने वर्ष के अन्तिम महीनों में जिस उदारता से बजट उपलब्ध कराया है, उसीका यह शुभ परिणाम है कि यह पत्रिका इतनी शीघ्र प्रकाशित होकर आपके सामने उपस्थित है, अत: उक्त दोनों महानुभावों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

वैदिक अंगिरस ऋषि

वैदिक साहित्य में अंगिरस् ऋषियों की चर्चा कई स्थलों पर आयी है। वैदिक संहिताओं में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान[1] है। यास्कीय निरुक्त में अंगिरस् का सम्बन्ध अंगारों से बताया गया है, जो तप का प्रतीक है। ऐसे ऋषि कोटि के व्यक्ति अंगिरस कहलाते हैं, जो मानो अंगारों पर बैठे तपस्या कर रहे हैं। अंगार शब्द से ही अंगिरस् बना है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यह कहा है कि जो अंगारे थे, वे ही अंगिरस् हो गये[2]। शतपथ ब्राह्मण में भी यही निष्पत्ति दी है, जहाँ कहा है कि अंगारों से अंगिरस् ऋषि उत्पन्न होते हैं[3]। तप से अंगिरसों का सम्बन्ध तैत्तिरीय और काठक संहिताओं से भी ज्ञात होता है। वहाँ कहा है कि 'तुम भृगु अंगिरसों जैसा तप करो'[4]। वेदों में अग्नि को भी अंगिरस् ऋषि कहा गया है[5]। इससे भी सिद्ध होता है कि तेजस्वी और तपस्वी को ही अंगिरस् ऋषि कहते हैं। अग्नि को अंगिरस्तम[6] भी कहा गया है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि वेद में प्रयुक्त एकवचनान्त या बहुवचनान्त अंगिरस् शब्द किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का वाची नहीं है, अपितु गुणवाची नाम है। वैदिक इंडेक्स के लेखक मैकडानल और कीथ भी ऋग्वेद में प्रयुक्त अंगिरसों की ऐतिहासिकता से इन्कार करते हैं[7]। यहाँ तक कि उनका कथन है कि निम्नलिखित प्रकार के मन्त्रों में भी अंगिरस् कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है, जबकि सायण[8] उसे ऐतिहासिक व्यक्ति मानते प्रतीत होते हैं-

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।

अंगिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्।। ऋ01.49.3

हे महान् व्रत वाले जातवेदस् अग्नि! तू जैसे प्रियमेध, अत्रि, विरूप और अंगिरस् के आह्वान को सुनता है, वैसे ही मुझ प्रस्कण्व के आह्वान को भी सुन।[9]

1. अंगारेष्वंगिराः। निरु0 3.17
2 ये अंगारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्। ऐ0 3.34
3 अंगारेभ्योऽङ्गिरसः। श0 4.5.1.8
4 भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्यवम्। तै0 1.1.7.2, काठ0 1.7
5 त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिः। ऋ0 1.31.1
6 त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः। ऋ0 1.31.2
7 The Angirases appear in the Rigveda as semimythical beings, and no really historical character can be assigend even to those passages (Rv. 1.45.3; 139.9; 3.31.7 etc; Chandogya Upanisad 1.2.10) which recognise a father of the race, Angiras–Vedic Index.
8 प्रियमेध-अत्रि-विरूप-अङ्गिरोनामकाः, एतेषामाह्वानं यथा शृणोषि तदत्-सायण।
9 द्रष्टव्य निरुक्त की व्याख्या जहाँ प्रियमेध आदि को गुणवाची नाम माना है-प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा। यथैतेषाम् ऋषीणाम् एवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्। प्रस्कण्व कण्वस्य पुत्रः कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम्। अंगारेष्वंगिराः ... अत्रैव तृतीयम् ऋच्छतेत्यूचुः तस्माद् अत्रिः, न त्रय इति। ... विरूपो नानारूपः। महिव्रतो

'अंगिरस्' की निष्पत्ति गत्यर्थक अगि धातु से भी की जाती है[10]। गतिमान् होने से अग्नि अंगिरस् कहलाता है। इसी प्रकार गतिमय जीवन वाला, कर्मण्य, ऋषि कोटि का व्यक्ति अंगिरस् है। गति के तीन अर्थ होते हैं-ज्ञान, गमन और प्राप्ति। अतः अंगिरस् वह है जो उत्कृष्ट ज्ञानी, तदनुसार कर्म करने वाला और सेवा के लिए दीन-दुःखियों के पास पहुँचने वाला है[11]।

गोपथ-ब्राह्मण में अंगिरस की व्युत्पत्ति अंग-रस से की गयी है। वहाँ जो वर्णन किया है, उसे यह ध्वनि निकलती है कि जो व्यक्ति किसी सत्कार्य के लिए इतना घोर परिश्रम करता है कि उसके अंग-अंग से स्वेद-रस (पसीना) निकलने लगता है, वह अंगिरस् कहलाता है[12]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शरीर में प्राण अंगिरस् ऋषि है[13]। अतः जिसका प्राण बलवान् है उस मनुष्य को भी अंगिरस् कहते हैं।

अंगिरस् का परिचय देते हुए ऋग्वेद में कहा है[14]-

विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।

ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे।। ऋ0 10.62.5

अंगिरस् ऋषि सर्वसाधारण की अपेक्षा विशिष्ट स्वरूप वाले (वि-रूप) होते हैं। साधारण जन अल्पदर्शी होते हैं, तो वे दूरदर्शी; साधारण जन स्वार्थ-परायण होते हैं, तो वे निःस्वार्थ सेवक; साधारण जन विघ्न-बाधाओं से डरने वाले होते हैं, तो वे निर्भय। ''वि-रूप'' का अर्थ 'विविध रूपों वाले' होता है। जनता के सम्मुख उनके अनेक स्वरूप आते हैं। कभी वे अविद्यान्धकार का उन्मूलन करने का व्रत लेकर सूर्य के समान विद्या का प्रकाश फैलाते हैं। कभी वे समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए कटिबद्ध दिखायी देते हैं। कभी महामारियों, विपत्तियों और दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों का सहारा बनकर सामने आते हैं। कभी पराधीन देश को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए नेतृत्व करते दृष्टिगोचर होते हैं। कभी अधर्म पर धर्म की विजय का जयघोष करते हुए विचरते हैं। अंगिरस् ऋषियों का दूसरा गुण है कि वे 'गम्भीरवेपस्' होते हैं। निरुक्त के अनुसार 'वेपस्' का अर्थ है प्रज्ञा और कर्म। उनकी प्रज्ञा गम्भीर होती है और उनके कर्म भी गम्भीर होते हैं। उनका तीसरा

महाव्रतः। निरु0 3.17.

10 अङ्गतिर्गत्यर्थः। अङ्गिर्गतिरस्यास्तीति अङ्गिराः। रस्प्रत्ययो मत्वर्थीयः। यजु0 3.3, महीधरभाष्य।

11 द्रष्टव्यः उणादि 4.237 पर दयानन्दभाष्य। अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा सः अङ्गिराः।... असि प्रत्ययस्य इरुडागमः।

12 तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत्। तं वा एतम् अङ्गरसं सन्तम् अंगिरा इत्याचक्षते परोक्षेण। गो0पू0 1.7.

13 प्राणो वा अंगिराः। श0 6.1.2.28

14 द्रष्टव्य इस मन्त्र की यास्ककृत व्याख्या-'बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीर-कर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा, ते अङ्गिरसः पुत्रास्ते अग्नेरधिजज्ञिर इत्यग्निजन्म। निरु0 11.17

गुण है कि वे अग्नि से जन्म लेते हैं, अग्नि के सुपुत्र होते हैं। प्रथम जन्म होता है माता-पिता से, द्वितीय जन्म होता है आचार्य से और तृतीय जन्म होता है अग्नि से। वानप्रस्थ और संन्यासी अग्नि से जन्म ग्रहण करते हैं।

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।

व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्।। यजु0 20.24

''वानप्रस्थी को उचित है कि 'मैं अग्नि में होम कर, दीक्षित होकर, व्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊँ' ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ होना नाना प्रकार की तप श्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करो।''[15]

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।। मनु0 6.38

''प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत, शिखादि चिह्नों को छोड़; आहवनीयादि पाँच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे।[16]'' ये अग्नि के पुत्र वानप्रस्थ और संन्यस्त जीवन व्यतीत करने वाले परोपकारी जन ही अंगिरस् ऋषि हैं।

ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।

नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते।। ऋ010.62.6

''जो विशिष्ट रूप और विविध रूप वाले अंगिरा ऋषि यज्ञाग्नि से जन्म लेते हैं, और देदीप्यमान् सूर्याग्नि से जन्म लेते हैं, उनमें जो नवग्व और दशग्व होता है, वह सर्वोत्तम अंगिरा ऋषि कहलाता है। वह अन्य देवजनों के साथ मिलकर लोकोपकार के लिए अपना तन-मन-धन सब दान कर देता है।''

निरुक्त के अनुसार नवग्व वह है जिसके जीवन की गति अन्यों की अपेक्षा नवीन है अथवा नवनीत जैसी स्नेहमयी है।[17] स्वामी दयानन्द इसकी व्याख्या करते हैं कि नवग्व वे हैं जिन्होंने नवीन शिक्षाएं और विद्याएं प्राप्त की हुई हैं तथा अन्यों में उनका प्रचार करते हैं।[18] गौ का अर्थ इन्द्रिय भी होता है, अतः जिनकी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरणचतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सबल हैं, वे भी नवग्व कहलाते हैं। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्त्व इन नव

15 स0, प्र0 समु0 5, वानप्रस्थप्रकरण।

16 वही, संन्यासप्रकरण।

17 अंगिरसो नः पितरो नवग्वाः0 ऋ0 10.14.6 अंगिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा। निरु0 11.19

18 नवग्वाः नवीनशिक्षाविद्याप्राप्ताः प्रापयितारश्च। ऋग्भाष्य 1.33.6

चित्त-विक्षेपरूप अन्तरायों[19] को जिन्होंने जीत लिया है वे भी नवग्व हैं। जिन्होंने अदिति प्रकृति तथा उसके आठ पुत्रों[20] सप्तग्रहों और सूर्य का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया हुआ है, ऐसे उच्चकोटि के दार्शनिक और सृष्टिविद्याविद् ज्ञानीजन भी नवग्व हैं।

दशग्व शब्द निरुक्त में व्याख्यात नहीं हुआ है। दसों इन्द्रियों पर और दसों प्राणों पर विजय प्राप्त करने वाले[21], दसों इन्द्रियों से कार्यसिद्धि प्राप्त करने वाले[22], पाँचों यमों तथा पाँचों नियमों का पालन करने वाले, और अष्टसिद्धि, विवेक एवं कैवल्य पा लेने वाले वीतराग ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी जन दशग्व कहलाते हैं।

ऋग्वेद मण्डल 10, सूक्त 107 में एक कथानक[23] आता है कि इन्द्र की गौओं को पणि नामक असुर चुरा ले जाते हैं और उन गौओं को वे नदी पार ले जाकर पर्वत की गुफा में छिपा देते हैं। इन्द्र सरमा को दूती बनाकर भेजता है। सरमा पणियों से गौओं को छोड़ देने के लिए कहती है और उन्हें भय दिखाती है कि यदि नहीं छोड़ोगे तो सोमपान से तीक्ष्णीकृत अयास्य और नवग्वा अंगिरस् ऋषि आयेंगे तथा वे तुम्हारे गौओं के सुदृढ़ बाड़े को तोड़कर गौओं को मुक्त करा लेंगे।[24] पणि सरमा को प्रलोभन देना चाहते हैं और कहते हैं कि-'आ, हम तुझे बहिन बना लेते हैं, तू इन्द्र के पास लौटकर मत जा, हम तुझे भी कुछ गौएं दे देंगे।' पर वह प्रलोभन में नहीं आती। वह कहती है-''मैं भाईपना, बहिनपना कुछ नहीं जानती। इसे इन्द्र जाने और उसके घोर अंगिरस् जानें।[25] अन्त में परिणाम क्या होता है, यह उस सूक्त में नहीं बताया है। वह वेद के अन्य अनेक मन्त्रों से ज्ञात हो जाता है। इन्द्र के सहयोग से वीर अंगिरस् ऋषि गौओं को मुक्त करा लाते हैं-

इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत।। ऋ010.62.7

''राष्ट्रयज्ञ के ऋत्विज् मेधावी वे अंगिरस् ऋषिगण राष्ट्रयज्ञ के ब्रह्मा राजा (इन्द्र) को सहायक पाकर पणियों द्वारा कैद किये हुए गौओं और अश्वों के समूह को छुड़ा लाते हैं तथा अष्टकर्णी गौएं जनता को प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार देवजनों में वे कीर्ति को

---

19 नव अन्तरायों के लिए द्रष्टव्यः योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र 30 । तत्र प्रतिपादितान् अन्तरायान् गच्छन्ति आक्रामन्ति ते नवग्वाः।

20 अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि। देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्।। ऋ0 10.72.8

21 दश गाव इन्द्रियाणि जितानि यैस्ते। दयानन्द, ऋग्भाष्य 5.29.12

22 ये दशभिरिन्द्रियैः सिद्धिं गच्छन्ति ते। वही 2.34.12

23 इस कथानक की विविध दृष्टियों से विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्यः लेखक का शोध-प्रबन्ध ''वेदों की वर्णन-शैलियां'' श्रद्धानन्द शोध-संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, 1966, पृ0 192-202

24 एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अंगिरसो नवग्वाः। त एतमूर्वं वि भजन्त गोनाम्।। ऋ0 10.108.8.

25 नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः। ऋ010.108.10

प्राप्त करते हैं।[26]''

जब राष्ट्र गो-हीन और अश्व-हीन हो जाता है, शत्रुओं द्वारा उसकी संपत्ति अपहृत कर ली जाती है, तब अंगिरस् ऋषि ही उस संपत्ति को वापिस लाते हैं। उदाहरणार्थ, अपने ही देश को लें। यहाँ किसी समय दुधारु गौएं होती थीं, घी-दूध-दही की इस देश में नदियाँ बहती थीं। आज अच्छी नस्ल की गौएं दुर्लभ हैं। किसी समय हवा से बातें करने वाले, सधे हुए, उत्कृष्ट कोटि के घोड़े होते थे। आज वैसे घोड़े भी दुर्लभ हैं। देश के अंगिरस् ऋषियों के गोरक्षा और पशुरक्षा के अभियान से ही देश अपनी पुरानी स्थिति को पा सकता है, किन्तु देश के इन्द्र अर्थात् राजा या सरकार का साहाय्य मिलना भी आवश्यक है।

पर वेद के गौ और अश्व केवल गाय और घोड़ों के ही वाची नहीं हैं। गौ का अर्थ है गव्य पदार्थ घी, दूध, दही आदि, जो कि समग्र भोज्य संपत्ति का प्रतीक है; अश्व उपलक्षण है इतर उपयोग में आने वाली वस्तुओं का। गौ के अर्थ वाणी, भूमि, ज्ञानकिरण आदि भी होते हैं। शत्रु ने हम पर अधिकार करके हमारी वाणी की स्वतन्त्रता को हर लिया है, या वेदवाणियाँ अन्धकारावृत हो गयी हैं, या शत्रु ने हमारी भूमियों को हस्तगत करके सीमा पर अपनी रक्षक-सेना नियुक्त कर दी है, जिससे उन्हें पुन: पाना कठिन हो गया है, अथवा ज्ञानकिरणें अज्ञानरूप पर्वत की गुफाओं में बन्द हो गयी हैं; इन सभी स्थितियों में राष्ट्र के अंगिरस् ऋषि आगे आते हैं और उनका उद्धार करते हैं। अश्व बल का भी प्रतीक है। जब राष्ट्र का बल छिन जाता है, राष्ट्रवासी निर्बल हो जाते हैं, तब भी अंगिरस् ऋषि उठकर निर्बलों में बल का संचार करते हैं। अश्व शरीर की इन्द्रियों का भी नाम है।[27] जैसे घोड़े घुड़साल में रहते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ शरीर में अवस्थित हैं। कभी-कभी इन इन्द्रियरूपी घोड़ों को कामक्रोधादि रिपु घेर कर अपनी पर्वतगुफा में बन्द कर लेते हैं, जिससे ये सत्कर्मों में प्रवृत नहीं हो पातीं। अंगिरस् ऋषि सदुपदेश द्वारा मानवों की इन इन्द्रियों को भी उन्मुक्त करा देते हैं।

अंगिरस् ऋषि जिन गौओं का उद्धार करते हैं, वे अष्टकर्णी गौएं हैं। साधारण गौओं के तो दो ही कान होते हैं, पर ये आठ कानों वाली है।[28] वेदवाक् रूपी गौ अष्टकर्णी होती

26 वाघत: राष्ट्रयज्ञस्य ऋत्विज: मेधाविनो वा, वाघत: इति ऋत्विङ्नामसु मेधाविनामसु च पठितम् निघं03. 18; 3.15, इन्द्रेण राष्ट्राध्यक्षेण युजा सहायेन गोमन्तं गावो धेनवो वेदवाचो भूमय: किरणा वा तद्युक्तं, अश्विनम् अश्वास्तुरंगा: शारीरबलानि इन्द्रियाणि वा तद्युक्तं पणिभिरवरुद्धं व्रजं समूहं नि:सृजन्त तत्सकाशान्निरगमयन्। मे मह्यं राष्ट्रवासिने सहस्रं सहस्रसंख्योपेता अष्टकर्ण्य: प्रतिपादम् अष्टाक्षरयुक्ता गायत्र्यादिवेदवाच:, प्रथमादिसम्बोधनान्ताष्टस्वरूपोपेता: सामान्यवाचो वा, अष्टदिक्षु व्याप्ता भूभीर्वा, चतुर्वेदचतुरुपवेदविभक्ता विद्या वा ददत: प्रयच्छन्त: अंगरिस: तेजस्विनो ऋषय: देवेषु विद्वत्सु श्रव: श्रवणीयं यश: (निरु0 11.9) अक्रत अकृषत इति भाव:।

27 इन्द्रियाणि हयानाहु:। कठ उप0 3.4

28 गाय के पक्ष में सायण ने अष्टकर्ण्य: का अर्थ 'बड़े कानों वाली' किया है-अष्ट इति अशू व्याप्तौ

है, क्योंकि उसके गायत्री, अनुष्टुप् आदि कई छन्दों में प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं। सामान्य वाणी भी अष्टकर्णी होती है, क्योंकि सुबन्त शब्दों को सम्बोधन को मिलाकर आठ कड़ियाँ हो जाती हैं। अन्यत्र वाणी को अष्टापदी कहा भी है।[29] भूमि रूपी गौ भी अष्टकर्णी है, क्योंकि वह आठ दिशाओं में विस्तीर्ण होती है। विद्या रूपी गौ भी अष्टकर्णी है, क्योंकि वह चार वेदों और चार उपवेदों में व्याप्त है। अंगिरस् ऋषियों की कीर्ति इन गौओं का उद्धार करने के कारण चारों ओर फैल जाती है।

ऋग्वेद के 10म मण्डल का 62 वाँ सूक्त, जिसके तीन मन्त्रों की अभी व्याख्या की गयी है, वैदिक अंगिरस् ऋषियों के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करने वाला एक सुन्दर सूक्त है। इसका ऋषि है **नाभा नेदिष्ठ**। इस सूक्त तथा इससे पूर्ववर्ती 61 वें सूक्त दोनों पर ऐतरेय ब्राह्मण[30] में निम्नलिखित कथानक आता है-"मनुपुत्र नाभानेदिष्ठ आचार्यकुल में ब्रह्मचर्यवास कर रहा था। उसके पीछे उसके भाइयों ने दायभाग का बँटवारा कर लिया, उसे कुछ नहीं दिया। नाभानेदिष्ठ को जब यह पता लगा, उसने आकर पिता से कहा कि मुझे दायभाग से वंचित क्यों रखा? पिता ने कहा कि यह भाग तुझे न सही न मिला; अंगिरस् ऋषि स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञ कर रहे हैं, उन्होंने षष्ठाह: पर्यन्त तो यज्ञ कर लिया है, आगे भूल गये हैं, तू जाकर उन्हें इन दोनों सूक्तों का शंसन करवा दे; वे स्वर्ग जाते हुए तुझे सहस्र गौएं दे जायेंगे। पिता से प्रेरित नाभानेदिष्ठ ने ऐसा ही किया तथा एक सहस्र गौएं पा लीं। इतने में ही किसी कृष्णशवासी पुरुष का रूप धारण किये हुए रुद्र ने आकर कहा कि इन गौओं को तू कहाँ ले जा रहा है? यह तो यज्ञशेष होने से रुद्र का भाग होता है, अत: मेरा है। जब नाभानेदिष्ठ ने कहा कि यह भाग तो स्वयं अंगिरसों ने मुझे दिया है..... तब वह पुरुष बोला कि तू अपने पिता से ही जाकर पूछ ले, वे ही इसका निर्णय कर देंगे। पिता ने भी कहा कि यह भाग तो रुद्र का ही है। पुत्र ने आकर पिता का निर्णय पुरुष को सुना दिया। उसके सत्य कथन से प्रसन्न होकर उस पुरुष ने वे एक सहस्र गौएं उसे ही दे दीं।

वस्तुत: अंगिरस्-गण गौएं प्रदान करते हैं, इस मन्त्रोक्त तथ्य को लेकर ही यह कथा रची गयी है। 61 वें सूक्त के 18 वें मन्त्र में नाभानेदिष्ठ पूरा नाम आया है। 62 वें सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में केवल नाभा नाम है। भा का अर्थ दीप्ति है, 'अभा' का अर्थ हुआ 'दीप्ति का अभाव,' 'न अभा नाभा' इस विग्रह से नाभा का अर्थ हुआ दीप्ति के अभाव का अभाव अर्थात् अतिशयदीप्तियुक्तता, उसके नेदिष्ठ अर्थात् अति समीप जो होना चाहता है वह नाभानेदिष्ठ है। ऐसा मनुष्य अंगिरसों की स्तुति कर रहा है तथा उनसे प्रार्थना कर

निष्ठायां रूपम्। विस्तृतकर्णा:। उपलक्षणमेतत्, व्याप्तसर्वावयवा:-सायण। संभवत: बड़े कानों वाली गौएं अच्छी नस्ल की मानी जाती हों। रॉथ इसका अर्थ 'छिदे कानों वाली' करते हैं। ग्रासमैन का कथन है कि जिनके कानों पर 8 चिह्न दाग दिये गये हैं वह अष्टकर्णी है। द्रष्टव्य: वैदिक इण्डेक्स।

29 वाचमष्टापदीमहम्। ऋ0 8.76.12

30 ऐ0ब्रा0 5.14; तुलनीय तै0 सं0 3.1.9.4

रहा कि तुम मानव-जाति का उद्धार करो। सूक्त के प्रथम चार मन्त्र यहाँ दिये जा रहे हैं।

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्त्वमानश।

तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।

ऋ010/62/1

''जो यज्ञ और दक्षिणा से संयुक्त हुए हैं, जिन्होंने इन्द्र का सख्य और अमृतत्त्व प्राप्त कर लिया है, ऐसे तुमको हे अंगिरसो! कल्याण प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो! तुम मानव-जाति को अपना आश्रय दो।[31]''

अंगिरस् ऋषि यज्ञ से संयुक्त होते हैं। यज्ञ शब्द यज् धातु से बनता है, जिसके तीन अर्थ हैं-देवपूजा, संगतिकरण और दान। देवाधिदेव परमात्मा की पूजा करना प्रथम यज्ञ है। छोटे-बड़े सब लोगों से जाकर मिलना, उनके दुःख-दर्द को, उनकी समस्याओं को सुनना और उसके प्रतीकार के लिए संगठन बनाना दूसरे प्रकार का यज्ञ है। दुःखियों के कष्टों के निवारणार्थ अथवा किसी महान् कार्य के लिए अपने तन-मन-धन को समर्पित कर देना तीसरा यज्ञ है। अंगिरस् ऋषि इन तीनों प्रकार के यज्ञों को करते हैं। अत एव महान् कार्य में सहायता के लिए उन्हें दूसरों से दक्षिणा, धनादि का दान भी प्राप्त होता है। वे सम्राटों के सम्राट् राजराजेश्वर प्रभु की मित्रता को प्राप्त कर लेते हैं, इसीलिए अमृतत्त्व अर्थात् जीवन्मुक्ति की स्थिति को पहुँच जाते हैं। मानव उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं कि तुम्हें भद्र प्राप्त हो, और अपने लिए यह याचना कर रहे हैं कि मानव-जाति को अवलम्ब दो।

य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्।

दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।। ऋ010/62/2

''जिन्होंने पिता बनकर हमें गो-धन प्राप्त कराया, जिन्होंने वर्ष भर निरन्तर संघर्ष करके अपने सत्य के अस्त्र से पाप-अन्याय-अत्याचार के वलासुर को छिन्न-भिन्न कर दिया, ऐसे हे अंगिरस् ऋषियो! तुम्हें दीर्घायुष्य प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो! तुम मानव-जाति को अपना आश्रय दो।[32]''

31। हे अंगिरसः तेजस्विनः प्राणवन्तोऽश्रान्तपरिश्रमपरायणा ऋषयः, ये यूयं यज्ञेन यज्ञः देवस्य परमात्मनः पूजा, सर्वैः सह संगतिकरणं, स्वेच्छया परोपकाराय सर्वस्वदानं च तेन, यज्ञ देवपूजासंगतिकरणदानेषु, दक्षिणया महतां परोपकारकार्याणां सम्पादनाय जनेभ्यः प्राप्तेन दानेन च समक्ताः संगताः, किं च इन्द्रस्य परमेश्वरस्य राज्ञो वा सख्यं मैत्रीम्, अमृतत्वं जीवन्मुक्तत्वं चं आनश आनशिध्वे प्राप्ताः स्थ, तेभ्यः तथाविधेभ्यः वः युष्मभ्यं भद्रं कल्याणम् अस्तु। हे सुमेधसः उत्कृष्टप्रज्ञोपेताः अंगिरसः, यूयं मानवं मानवजातिं प्रतिगृभ्णीत प्रतिगृह्णीत, स्वाश्रयं प्रदातुं स्वीकुरुध्वम्। ग्रह धातोः हृग्रहोर्भश्छन्दसीति भत्वम्।

32 हे अंगिरसः, ये भवन्तः पितरः पालनकर्तारो भूत्वा गोमयं गावः धेनवः, भूमयः वाचः, इन्द्रियाणि, ज्ञानरश्मयो वा तन्मयं वसु धनम् उदाजन् प्रापयन्, परिवत्सरे समग्रसंवत्सराभ्यन्तरे संघर्षरताः सन्तः वलम् सत्कर्मन्यायादेरावरकं पापान्यायकदाचारादिरूपम् असुरम् ऋतेन सत्यस्यायुधेन अभिन्दन् अच्छिन्दन्, तादृशेभ्यो वो भवद्भ्यः दीर्घायुत्वं दीर्घजीवित्वम् अस्तु। हे सुमेधसः, यूयं मानवं प्रतिगृभ्णीत।

य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि।

सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।। ऋ010/62/3

"जिन्होंने सत्य का ऐसा प्रचार किया कि राष्ट्र-गगन के मध्याकाश में सूर्य उद्गत हो गया; जिन्होंने मातृभूमि को ज्ञान, सर्वतोमुख उत्कर्ष आदि से प्रथित कर दिया, ऐसे हे अंगिरस् ऋषियो! तुम्हें हम प्रजाओं से सुप्रजावान् होने का सौभाग्य प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो! तुम मानव-जाति को अपना आश्रय दो।[33]"

अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।

सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।। ऋ010/62/4

"यह नाभानेदिष्ठ तुम्हारे गृहद्वार पर आकर रमणीय वचन बोल रहा है। हे परमात्मदेव के सच्चे पुत्र ऋषियो! उस वचन को सुनो। हे अंगिरस् ऋषियो! तुम्हें सुब्रह्मण्य प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो! मानव-जाति को अपना आश्रय दो।[34]" सभी राष्ट्रों में सदा अंगिरस् ऋषियों की पुकार होती है। आज भी विश्व अंगिरस् ऋषियों को पुकार रहा है, और कह रहा है-**प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः**।

डॉ0 रामनाथ वेदालङ्कार

वेद मन्दिर, गीता आश्रम,

ज्वालापुर, हरिद्वार

33 ये भवन्तः ऋतेन सत्यप्रचारेण दिवि राष्ट्रगगने सूर्यम् आरोहयन्, सूर्ये गगनारूढे सति यादृशः प्रकाशो जायते तादृशं सत्यन्यायादेः प्रकाशं राष्ट्रे समजनयन्नित्यर्थः मातरं पृथिवीं 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः (अथर्व0 12.1.12)' इत्याथर्वणोक्तेः राष्ट्रभूमिं वि अप्रथयन् विशेषेण प्रख्यातकीर्तिकामकुर्वन् तादृशेभ्यो वः सुप्रजास्त्वम् सुप्रजावत्त्वम्। हे सुमेधसः, मानवं प्रतिगृभ्णीत।

34 अयं नाभा नाभानेदिष्ठः नाभा कान्त्यभावाभावः प्रचुरकान्तिर्ममनेदिष्ठा समीपतमा स्यादिति यः कामयते स नाभानेदिष्ठः, तस्यैव संक्षिप्तं रूपं नाभा इति। स वः युष्माकं गृहे समागतः सन् वल्गु चारु वचः वदति व्याहरति। हे देवपुत्राः देवस्य परमात्मनः सत्पुत्रा ऋषयः, तद् वचः यूयं शृणोतन शृणुत, "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तनबादेशः। तेभ्यो वः युष्मभ्यं हे अङ्गिरसः, सुब्रह्मण्यम् शोभनं ब्रह्मवर्चसम् अस्तु। हे सुमेधसः, मानवं प्रतिगृभ्णीत।

अथर्ववेदे दीर्घजीवन-कामना

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री

मानवजीवनं सर्वोत्कृष्टमस्ति मतमिदं निरन्तरायतया निखिलानां चिन्तनपराणां विदुषां नितरामभिमतम्। मानवाभ्युदयार्थं समभीप्सितं यत् ज्ञानं वेदेषु विद्यते ततोऽधिकं नान्यत्र क्वचित्। अत एव **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' 'यतः सर्वाः प्रवृत्तयः' 'सर्वज्ञानमयो हि सः'** इति निगद्य महर्षयो निजवाग्ज्योतिषा सांसारिकजनानां ज्ञानदीपं दीपयन्ति। वेदमन्त्रान् तदर्थांश्च समालोक्य विश्वभद्रतां प्रकटयन्ति। को न खलु कामयते दीर्घजीवितां सुखे कस्य न रमते मनः। दीर्घजीविकापहरणपराणि कर्मजातानि सम्पादयन्नपि पुमान् न दुःखे मतिमातनोति। विश्वतो जनाश्चिन्तयन्ति तानुपायान् यैरवाप्यते दीर्घजीवनम्। अथर्ववेदे दीर्घजीवनोपाया दीर्घजीवनप्रार्थनाश्च सन्ति। शरीरे ये पञ्च वायवो मरुद्गणमध्ये पठिताः सन्ति ते वितरन्तु दीर्घजीवितां, मे मनः पुष्टिमाप्नुयात्, बृहस्पतिर्मे वाचि शक्तिं वितनोतु, जठराग्निर्मे दीप्तिमत्तां रक्षतु, जननशक्त्या बलवत्तया च मामभितः सिञ्चतु। प्राणाग्निरेव देहे महानतः स मम आयुर्वर्धनरक्षणक्षमः। प्रोच्यते मन्त्रः-

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।

सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे॥[१]

व्युत्क्रामत्सु प्राणेषु शरीरमूष्मा विजहाति, ऊष्माविरहितं शरीरं मृतं भवति। अत एव प्राणापानयोः सहभावेन वर्त्तमाना स्थितिर्न कदापि हीयेत, एतदर्थं प्रयासो विधेयः। सात्त्विक आहारः प्राणान् परिपुष्णाति। हे पुरुष! प्राणापानौ तव शरीरमुत्सृज्य निर्गतौ न भवतात्। प्राणानामधिपतिपदबोध्यो जीवः प्राणैः सह सुखमनुभवन् लोके चिरं जीवतु।

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्।

शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः॥[२]

कदाचिदपघातावस्थायां पुरुषोऽयं मृतो जात इत्युच्यते पारिवारिका जना मृतोऽयमिति मत्त्वा व्यथितहृदया भृशं रुदन्ति, परं प्राणाचार्यविद्यया पुण्योदयेन वा प्रत्यागतायां श्वसनप्रक्रियायां स संजीवितो भवति। तदा प्रफुल्लवदना वदन्ति, अहो प्रत्यागत प्राणोऽयमिति। एतेन प्रतीयते यत् दीर्घजीवितायै प्राणाभिरक्षणमिष्यते। प्राणप्रहाणिर्न स्यात् निर्गतप्राणं शरीरं न भवेत् दृग्गतम्। वेदे मङ्गलं कामयमानो विद्वान् विप्रर्षिः कथयति यद्ब्रह्मविदं पुरुषं प्राणो न त्यजेत् नापि चापानस्त्यजेत्। सप्तर्षीणां प्राणानां दिवस्पुत्रस्य शरीरे गतिस्तथा स्यात् यथा वर्षाणां शतं न कदापि भवेदूनम्। यथा-

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्।

१. अथर्व०७.३३.१.

२. अथर्व०७.५३.२.

अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरूपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते॥[३]

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्।

सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु॥[४]

यथा द्वौ वृषभौ शकटं वोढुं तत्सम्पृक्तौ भवतस्तथैव शरीरं वोढुं प्राणापानौ तदन्तर्विशतः। वृषभयुग्मबलेन यथा शकटं गन्तव्यस्थलं लभते तथैव प्राणापानशक्त्या पुरुषोऽयं लोकेऽस्मिन् पूर्णपुरुषायुष्यं लभतां निर्बाधं सुखञ्च सेवताम्।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।

अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥[५]

अस्मिन् मन्त्रे प्राणापानयोः शक्तिमत्तां निगद्य संदिष्टा जनाः यत् योगबलेन योगाभ्यासेन संशोधितौ प्राणापानौ शरीरं स्फूर्तिमुपपादयत आयुश्च वर्धयतः। जीवमुद्दिश्य संदेशः प्रदीयते यत् हे पुरुष! तव शरीरे जगन्नियन्ता परमेश्वरः प्राणशक्तिं प्रेरयति। प्राणक्षयार्थं समुद्यतं यक्ष्माख्यं रोगं नाशयितुं ज्येष्ठं वरिष्ठं भिषगाचार्यं निर्माति। शरीरे मुख्यरूपेण प्राणाग्निरेव प्रभुणा समेधितो भवति। प्राणाग्निरेव विश्वतः शरीरं परिपुष्णाति। भरण-धरण-कारितया प्राणाग्निरेव समुचितैरुपायैर्वरणीयः।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।

आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः॥[६]

पापवृत्तिर्मानवानां दीर्घजीवितां परिहरति ये खलु आयुषो दीर्घतां समीहन्ते तैर्नूनं दुर्विचाराः स्वहृदयात् निस्सारणीयाः। परसुखं मनसा समीहमानानां जनानां प्राणा भवन्ति निरुद्वेगाः। किल्विषोद्भूतप्रभूतदुःखप्रदपदभाजां सांसारिकानां जीवनं समभिविशन्ति चित्तोद्वेग-शोकमयासूया-प्रदा दुर्विचाराः। यैर्वेदाभ्यासः क्रियते येषां मनसि जायते सत्त्वोद्रेकस्त एव नाकाटवीमन्विष्य लोके निर्भयं जीवन्ति, परममवाप्य ज्योतिरुत्तमकोटीमाटीकन्ते।

उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥[७]

वेदेषु निगद्यते यत् शरीरस्यान्तं यः करोति जीवं शरीरात् पृथक्करोति यस्तस्मै मृत्यवे जीवनान्तकर्त्रे नमः। अत्रायं विद्यते अभिप्रायो यत् मृत्युवारणोपाया ये ये सन्ति ते द्रष्टव्याः। प्राणा

३. अथर्व०७.५३.२.
४. अथर्व०७.५३.४.
५. अथर्व०७.५३.५.
६. अथर्व०७.५३.६.
७. अथर्व०७.५३.७.

अपानाश्च काये सततमविकलतया रमेरन् इत्यस्यां दिशि प्रयासाः सन्तु सविस्तराः। योऽयं पुरुषो जीवो देहपुर्यां वसति सः प्राणेनापानेन च सह प्रकाशमये सुखप्रदे अमृतरसनिःस्यन्दिनि दिव्यलोके चिरं वसतिं विधाय आयुषः पूर्णतां प्राप्नोति।

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।

इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥[८]

अमृतं मृत्यवारकमुच्यते, पूर्णमायुरेवामृतप्राप्तिसाधनम्, शतवर्षाधिकं जीवनमप्यमृतमिहोच्यते, दिनरात्रियुग्मक्रमः पक्षमासयुग्मक्रमः ऋतुसंवत्सरयुग्मक्रमश्च सन्त्यमृतलोका इमे। इमे सूर्यपरिक्रमाङ्गभूताः। प्राणस्य संज्ञा अमृतं भवति प्रजापतित्वममृतं भवति। शतपथ-ब्राह्मणे सर्वमिदं समाख्यातम्। यथा-अमृतम्-अमृतात् मृत्युर्निवर्तते। एतद्धै मनुष्यस्यामृतं यत्सर्वमायुरेति। य एवं शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति सहैवैतदमृतमाप्नोति। अमृतं उ वै प्राणाः। प्रजापतिर्वा अमृतः। ते देवा होचुर्नातोऽपरः कश्चन सह शरीरेणामृतोऽसत यदैव त्वमेतं भाग हरासा अथ व्यावृत्य शरीरेण अमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा। (शत०ब्रा०)

हे पुरुष तव शरीरं भद्रवृत्त्यर्थं मधुरमन्त्रं धारयति, व्यान-समान-उदान-कृकल-देवदत्त-नाग-कूर्म-धनञ्जयाख्याः प्राणरूपा वायवो देहं दीप्तिमन्तन्ते रचयन्ति, प्राणाग्निर्जठराग्निश्च परस्परं तव काये कान्तिमुत्पादयतः। अतो भद्रमार्गमालोक्य तेन स्वस्तिकरेण मार्गेणात्मानं नियोजय। हे पुरुष! तव शरीरे जीवनशक्तिर्विद्यते तत्रैव प्राणशक्तिरपि विवर्धते, प्राणशक्त्या तवायुरपि वर्धते, अत्रैव तव मनोऽथान्तःकरणं च राजते। सर्वाणि जीवनसाधनानि पूर्णायुष्यप्रदानि च साधनानि शरीरे ते सन्ति। तवं शं संवर्धनाय भद्रं विस्ताराय च परमात्मना वेदवाणीयं पापनिवारणाय प्रदत्ता-

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान्।

उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥[९]

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।

उत त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि॥[१०]

'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' अतो जिजीविषा न हेया। जीवनमिच्छन् पुरुषः सदोन्नतिं कामयेत् कदापि कथञ्चिदपि न्यग्गमनं न मन्येत्। मृत्योरन्धकारस्य पाशमाच्छिद्य अमृतमयं प्रकाशलोकमभिसंविशतु। अमृतमयेन दिव्यलोकेन आत्मानं योजयेत् अग्निसमः सूर्यसमश्च भवतु नाम। हे जीव! दीर्घं तवायुः प्रदातुं सदैवान्तरिक्षे प्राणप्रदो वायु प्रवाति, तव जीवनमभिवर्धयितुमेवेन्द्रो वर्षति, शरीरं सबलं सप्राणं च कर्तुं शङ्करस्तपति सूर्यः। इमे देवा देवानामायुर्ददति।

८. अथर्व०८.१.१.
९. अथर्व०८.१.२.
१०. अथर्व०८.१.३.

उत्क्रामतः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।

मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः॥[११]

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।

सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः॥[१२]

दुष्कर्मकर्तॄणां बलानि तथायूंषि कर्मणामपवित्रतैव नाशयितुमलम्। अतो दीर्घमायुः कामयमानैर्मानवैः कदापि मनसि निषिद्धदुष्कर्मभावो नोद्भावनीयः। सत्त्ववतां सतां जीवनं कुपथगामिता मा संस्पृशेत्। कदापि जीवने न भवेत् दुर्वासः प्रमादवासः। यथा-

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरोभून्मा जीवेभ्यः प्रमदो मानुगाः पितॄन्।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह॥[१३]

संसारे स्वजने दिवङ्गते सति तद्विरहोद्भूतं दुःखमनुभवन् पुमान् नात्मानं स्थिरयितुं क्षमते। प्रियजनविप्रयोगोद्भूतदुःखाग्नावात्मानं मुहुर्मुहुराक्षिपन् निजायुरेवाल्पतां नयति। विरहाग्निदग्धहृदयं पुरुषं संदिशति वेदो यत् ये लोकं विहाय अवेद्यं लोकान्तरं व्युपगतास्ते वर्तमाने जीवनं कामयमानानां पुरुषाणां नूनमेवाचिन्त्या जाताः। दिवङ्गतानां निरन्तरमनुचिन्तनं तमसि निमज्जनमिव। अतस्तमः पन्थानतीत्य प्रकाशवति पथि पादौ निक्षेपणीयौ। प्रकाशवर्त्मनि गतिमतां देवा नूनं साहाय्यमाचरन्ति। उक्तं वेदे-

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।

आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे॥[१४]

वेदे निगद्यते यद्यामिनीदिवसौ सहभावेन जीवनकालं वहतः। श्यामरूपा रात्रिर्भवति शबलरूपश्च दिवसो भवति।[15] पृष्टतो न निरीक्ष्य अग्रतः समीक्षितव्यम्। औदासीन्यं विषण्णता च नास्माकं जीवनं संस्पृशेत्। प्राग्वर्तिभिर्मनीषिभिर्देवैर्विद्वद्भिश्च यो मार्गः स्वीकृतस्स एव मार्गो ग्राह्यः। योऽभद्रमार्गो महतामभिमतो नास्ति न स मार्गः परिगण्यते गन्तव्यमार्गश्रेण्याम्। उच्यते-

श्यामश्च त्वा मा शबलस्य प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।

अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥[१६]

११. अथर्व०८.१.४.

१२. अथर्व०८.१.५.

१३. अथर्व०८.१.७.

१४. अथर्व०८.१.८.

१५. कौ०२.९. 'अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः।'

१६. अथर्व०८.१.९.

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।

तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्॥[१७]

देहे यावदग्निस्तिष्ठति तावद् जीवनमुल्लसति। अतः सर्वत्राग्नेरेव महत्त्वमपेक्ष्यते। प्रजासु लोकेषु ये अग्निरूपा विद्वांसः सन्ति मान्यास्ते रक्षन्तु। प्रकाशमानपदार्थेषु सूर्यचन्द्रनक्षत्रादिषु वर्तमानोऽग्निः सर्वान् रक्षतु। मनुष्यैरनेकैरुपायैः समेधमानः सन्नयमग्निः सदा सर्वान् रक्षतु। व्योम्नि प्रचण्डगर्जनेन स प्रकाशमानो वैद्युताग्निर्भुवमवतरन् कमपि कुत्रापि न प्रदहतु।

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते।

वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह॥[१८]

क्वचित् क्रव्यभक्षका हिंसका जन्तवः प्राणिप्राणान् हरन्ति, अत एव प्रार्थना कृता यत्ते प्राणिवधं न कुर्युः। लोभातिरेकात् परदुःखाग्निप्रदीपका ये जनास्ते न स्वदृशा द्रष्टव्याः। दीर्घजीवनं दैविकप्रकोपा न प्रकम्पयन्तु। एतदर्थं सर्वे भौतिकदेवा मनसा ध्येयाः। यथा-

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर।

रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च।

अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः॥[१९]

यदा बुद्धिबोधको गुरुर्बुद्धिं सत्कर्मणि नियोजयति तदा सत्कर्मणा आयुषो वृद्धिर्भवति। सदुपदेशको वस्तुतत्त्वमुपदिश्याज्ञानतिमिरं निराकरोति। अज्ञानतिमिरे व्यपगते मनुष्याणामाचरणं दीर्घजीवनप्रदतां प्रकटयति। वेदे प्रार्थनां प्रकुर्वाणो नरो वदति यत् निर्निद्रा रक्षका निर्निमेषं रक्षणपरा भवन्तु। प्रार्थिता मनसा चिन्तिता देवगणा सुखं प्रयच्छन्ति, सुखमपि संसारे सांसारिकजनानां जीवनशक्तिं वर्धयति।

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्।

गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥[२०]

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपयन्तु। तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा॥[२१]

प्राणेषु खल्वायुरूपमालोक्य प्राणानामेव महत्ता प्रतिपादिता। धातृरूपेण त्रातृरूपेण सवितृरूपेण च स्तूयमान इन्द्र सर्वान् सर्वैः सह प्राणवतो विधाय पूर्णमायुः प्रयच्छति। पूर्णायुषः प्राक्

---

१७. अथर्व०८.१.१०.

१८. अथर्व०८.१.११.

१९. अथर्व०८.१.१२.

२०. अथर्व०८.१.१३.

२१. अथर्व०८.१.१४.

कमपि बलहीनं प्राणैर्विहीनं च विधाता न कुर्यात्। प्रार्थनेयं वेदे विलोक्यते। जीवनहरा ये रोगा अङ्गेषु पीडां जनयन्ति, पूर्णं हनुस्थलं भृशं व्यथयन्ति, नेत्रयोरग्रतस्तिमिरमुद्दिरन्ति, जिह्वाया गतिं हरन्ति ते रोगा नास्मान् संस्पृशन्तु। इन्द्राग्नीरूपा वसुरूपा ये महान्तः सन्ति ते सर्वतो रक्षन्तु पुरुषान्-

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः।

मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि॥[२२]

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः।

उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥[२३]

प्राणिभिस्तथा वर्तितव्यं यथा द्यौर्न प्रकुप्येत् पृथिवी मृत्युपाशं न प्रक्षिपतु प्रजापतिर्मृत्युमपसारयेत् सोमरश्मिभिर्मधुरसपूर्णा ओषधयो जीवनं वर्धयन्तु। पुरुषो मोदमावहन् अस्मिन्नेव देहे वसन् दीर्घमायुर्लभेत। प्रकृतिमुपगतस्य पुरुषस्यायुः स्वभावतयैव वर्धते। अत एवानधिगतवर्षशतानां न जायते देहान्तरप्रवेशः। दीर्घजीवनमधिगन्तुम् उपायसहस्राणामप्यन्वेषणे मनागपि प्रमादो न विधेयः। यथा वेदे-

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः।

इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि॥[२४]

उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत्।

उत् त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन्॥[२५]

परमेश्वरः पुरुषं संदिशति, यन्मृत्युरपरिपक्वावस्थायां कमपि न हन्यादेतदर्थं प्राणप्रदमन्नं प्रदत्तम्। शुद्धमन्नं भुक्त्वा, निर्मलं नीरं निपीय, पापवृत्तिं मनसो बहिर्निक्षिप्य यदा पुरुषो जीवनं धत्ते तदा भवति दीर्घमायुः। जीवनमुन्नेतुं परमात्मना ज्योतिर्द्वयं मानवकल्याणाय प्रकाशितम्। प्रथमं ज्योतिः सूर्यो द्वितीयं ज्योतिर्वेदज्ञानश्च विद्यते। सूर्यज्योतिषा भौतिकं देहं परिपुष्णाति वेदज्योतिषा चान्तःकरणं शोधयति वर्धयति च शक्तिम्।

उत त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः।

मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन्॥[२६]

२२. अथर्व०८.१.१५.
२३. अथर्व०८.१.१६.
२४. अथर्व०८.१.१८.
२५. अथर्व०८.१.१७.
२६. अथर्व०८.१.१९.

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि॥[२७]

येषां मनुष्याणां जीवने सात्त्विकी वृत्तिरुद्भासते तेषामायुरपि वृद्धिमाप्नोति। रजोगुण-तमोगुणाविष्टचित्तानां मानवानां जीवने न दृश्यते दीर्घजीवनोल्लासः। अत एव कथ्यते यत् सत्त्ववृत्तिं धारयन् धीमान् श्रीमान् भूत्वा पुरुषः शतवार्षिकमायुर्लब्धुं भोगसाधनानामर्जनाय कार्यमारभेत्। जीवनं यावत् तावत् आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धकानि साधनानि भवन्त्वच्छिद्यमानानि अन्नादिभिरसवो बलमायुश्च नवतामाप्नुवन्ति। हे पुरुष! त्वं रजसा तमसा चात्मानं नाच्छादय त्वाञ्च सत्वरं कदापि मृत्युर्मोपगच्छतु। यथा-

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमाच्छिद्यमाना ते जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठाः॥[२८]

ये पुरुषा ज्योतिष्मन्तो विवेकिनः पुरुषार्थप्रियाश्च सन्ति तैः सह मैत्री स्थापनीया यतो हि तैः सह संस्थापिता मैत्री भद्रकारिणी भवति भद्रता च दीर्घमायुः प्रयच्छति। शरदः शतं सुखं जीवितुं जीवनमवाप्यते, जीवनकाले खलु मृत्युपाशाः छिद्यन्ते निन्दनीया गतिरनिन्द्या क्रियते शुभकर्मणा द्राघीय आयुश्च समवाप्यते सद्भिः प्राणविद्याविद्भिर्विद्वद्भिः।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥[२९]

ऋषिभिः प्राणविद्याविषये जना संदिष्टा यत्ते वायुं न प्रदूषयन्तु। वायुरेव प्राणान् जनयति। अतः प्राणप्रदायिनि वायौ न समुत्पद्येत्, कश्चिद्दोष इत्यस्यां दिशि विचारकरणे केनापि प्रमादो न करणीयः। सूर्यज्योतिषा नेत्राणि सर्वं पदार्थजातं पश्यन्ति। सूर्याग्निनैव सर्वे प्राणिनः संजीविता जायन्ते। शिवसङ्कल्पमेव प्रकल्पयतः पुंसो मनः कदापि चञ्चलं न जायते। निश्चले मनसि श्वासगतिः समा भवति, समगत्या च तया आयुरभिवर्धते-

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।
यत्ते मनस्त्वयि तद्धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्॥[३०]

यथा लोके जना अप्रदीप्तमग्निं संधुक्षिण्या तालवृन्तवायुना वा प्रदीपयन्ति तथैव देहस्थमग्निं प्राणवायुना संवर्धयन्ति। द्विपदभाजां चतुष्पदभाजां वा शरीरे प्राण एव अग्निं प्रदीपयति। प्रदीप्ते चाग्नौ सर्वाणीन्द्रियाणि स्व-स्वविषयसेवनकुशलानि जायन्ते। समिद्धप्राणाग्निर्जनश्चिरं जीवति, जरसः पूर्वं

---

२७ अथर्व०८.१.२१.
२८. अथर्व०८.२.१.
२९. अथर्व०८.२.२.
३०. अथर्व०८.२.३.

जगन्न जहाति। मृत्युवारणाय भैषज्यं प्रभवति। आमयवारणाय जीवन्ती सेव्या त्रायमाणाख्या सहस्वती सहमानाख्या चोषधी सेवनीया-

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि।

नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम्॥[३१]

अयं जीवातु मा मृतेमं समीरयामसि।

कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः॥[३२]

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।

त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥[३३]

एकस्मिन् मन्त्रे प्राणापानयोरविचलाया गत्याः सुस्पष्टं वर्णनं विद्यते। यस्य पुरुषस्य प्रकृतिनियमान् पालयतः प्राणापानौ निर्व्यवधानेन संचरतस्तस्य आयुरपरिपक्वावस्थायां कालस्तस्यावयवाश्च निहन्तुमनर्हाः। सुदृढप्राणापानानां निश्चलचेतसां सात्त्विकवृत्तानां साविध्यं नोपसर्पति सुखेन जरावस्था मृत्युश्च। यथा-

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।

वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्॥[३४]

यद्यपि नियमबद्धं पुरुषं रोगोपद्रवा न व्यथयन्ति किन्तु यदि कदाचिद् स जायते रोगाक्रान्तस्तदा ओषधबलेन रोगं दूरं कर्त्तुमर्हति। वेदे त्वोषधिः प्राणप्रदायिनी, जलं प्राणप्रदं, वायुश्च प्राणशक्तिवर्धकः। अतः शुद्धसङ्कल्पं प्रकल्पयन् पुरुषो यदि प्रकृतिमातुः क्रोडे सुक्रीडारतो भवति तर्हि न भवत्यल्पायुः। वेदेषु खाद्यान्नविषये ते सङ्केताः प्राप्यन्ते ये दीर्घजीवनं निर्दिशन्ति। अदने व्रीहियवयोर्विशिष्टं स्थानं विद्यते। व्रीहियवयोर्भोक्ता चिरं जीवति। यतो हि व्रीहियवावुभावपि माधुर्यप्रदौ रोगहरौ कष्टवारकौ तथा चायुःप्रदौ कथितौ मन्त्रविद्भिः।

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।

तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥[३५]

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।

एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥[३६]

---

३१. अथर्व०८.२.४.

३२. अथर्व०८.२.५.

३३. अथर्व०८.२.६.

३४. अथर्व०८.२.११.

३५. अथर्व०८.२.१५.

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं१ यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि॥[३७]

एवं प्रकारेण अथर्ववेदे दीर्घजीवनविषये बह्व्यः कामनाः कृताः। या या कामनाः कृतास्तास्ता सर्वा आयुपरिवर्धनाय नूनं सन्ति मनसा ध्येयाः।

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

३६. अथर्व०८.२.१८.
३७. अथर्व०८.२.१९.

वेद में वाहन-विज्ञान और अश्व

प्रो० ज्ञान प्रकाश शास्त्री

भारतीय दृष्टि में सृष्टि का उष:काल वेद का आविर्भाव काल माना जाता है। वेद के स्वरूप के विषय में पाश्चात्त्य और पौरस्त्य दृष्टि में बहुत मतभेद है। पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की आरम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। मैक्समूलर के शब्दों में-**'वैदिक सूक्तों की बहुत बड़ी सङ्ख्या बिल्कुल बचकानी, जटिल, निष्कृष्ट और साधारण है। उसमें न सङ्गति है और न सुलझे हुए अर्थों की स्थापना।"**[1] इसी सूत्र को पकड़कर पिछले सौ वर्षों में पश्चिमी विद्वानों तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों द्वारा अनेक भाष्य और व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गये।

इसके विपरीत भारतीय परम्परा से देखने वाले विद्वान् वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत मानते हैं-ऋषियों की घोषणा है-**'यद्भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति"**[2] कि जो कुछ ज्ञान-विज्ञान इस धरा पर अभिव्यक्त हो चुका है और हो रहा है और भविष्य में होगा, वह सब वेद से ही प्रसूत होता है।

प्राचीनकाल से ही वेद के रहस्यों को प्रकट करने के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों, वेदाङ्गों तथा उपाङ्गों के रूप में प्रयास होता रहा है, लेकिन वेदभाष्य की कोई सुदीर्घ परम्परा हमारे साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होती। इसका प्रथम कारण यह प्रतीत होता है कि वेद ज्ञानरूप हैं, दूसरे शब्दों में अनुभव का विषय हैं, जिसे केवल शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि प्राचीन ऋषियों की निश्चित धारणा थी **'वेदाः स्थानानि विद्यानाम्"**[3] कि वेद विद्याओं के स्थान हैं। **'सर्वज्ञानमयो हि सः"**[4] कि वेद सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार हैं। यद्यपि शब्दरूप वेद की सीमा नियत है, लेकिन अर्थ की इयत्ता का निर्धारण नहीं हो सकता। ऋषियों का स्पष्ट अभिमत रहा है-**'अनन्ता वै वेदाः"**[5] कि ज्ञान अनन्त है। उस अनन्त ज्ञानराशि को सीमित ज्ञानदृष्टि वाला मनुष्य कैसे निबद्ध कर सकता था? इसलिये वेदार्थ प्रक्रिया का निदर्शन कराने वाले ग्रन्थ तो लिखे गये, परन्तु समग्र वेदभाष्य करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। आचार्य यास्क जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ने वेदार्थ का निदर्शन तो किया, लेकिन किसी वेद का सम्पूर्ण भाष्य करने का सर्वथा प्रयत्न नहीं किया।

१. Chips from a German Workshop, Ed. 1866, P.27. "A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and commonplace."

२. मनु०१२.९७.

३. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय-३.

४. मनु०२.७.

५. तै०ब्रा०३.१०.११.३. 'अनन्ता वै वेदाः (इन्द्रो भारद्वाजमुवाच)।'

पाणिनि जैसे मनीषी ने जिसने मुख्यत: वेद को दृष्टि में रखकर अपने व्याकरण का गठन किया, उसने एक भी देवतावाचक पद को व्युत्पन्न करने का प्रयास नहीं किया। यह केवल अनायास घटित हुआ हो, ऐसा नहीं। यह एक सोची-समझी नीति के तहत वेदभाष्य से बचने का प्रयास होता रहा है। ईश्वर अनन्त है, अत: उसका ज्ञान भी अनन्त है, उसको परिमित ज्ञानवाला मनुष्य कैसे अभिव्यक्त कर सकता है। इस सत्य का दर्शन करने के कारण प्राचीन ऋषियों ने वेदभाष्य नहीं किया है। इस प्रकार प्राचीन ऋषियों की दृष्टि में वेद का ज्ञान साक्षात् ही दिया जा सकता है, उसको किसी एक विधा या विज्ञान की शाखा तक सीमित कर देना न केवल प्राचीन भारतीय मनीषा के प्रति अश्रद्धा प्रदर्शित करता है, अपितु ज्ञान के उत्स के प्रति भी नकारात्मक दृष्टि को भी अभिव्यक्त करता है।

आधुनिक पुनर्जागरण युग के पुरोधा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के प्रथम नियम में परमेश्वर को सब सत्य विद्याओं का आदिमूल तथा तृतीय नियम में वेद को सब सत्यविद्याओं का पुस्तक बताकर भारतीय परम्परा द्वारा स्वीकृत सत्य का मात्र उद्घोष किया है। वेद के जितने भाष्य हुए हैं, उतने सम्भवत: किसी अन्य पुस्तक के नहीं हुए और उनमें जितना मतभेद पाया जाता है, उतना किसी अन्य पुस्तक के भाष्य में नहीं पाया जाता है। इसका एकमात्र कारण यह प्रतीत होता है कि वेद ईश्वरीय रचना है और उसे मनुष्यबुद्धि की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत आलेख का विषय वाहन विज्ञान से सम्बन्धित है। निघण्टुकार ने प्रथम अध्याय के अश्ववाचक तथा आदिष्टोपयोजन गण में वाहनवाचक पदों का परिगणन किया है।[६] अश्ववाचक गण में पठित **वाजी, वह्निः, ससिः, एतग्वाः, एतशः, तार्क्ष्यः, ब्रध्नः, श्येनासः, सुपर्णाः, पतङ्गाः, नरः**-इत्यादि पद निश्चित रूप से अश्ववाचक नहीं हैं। इनमें से कुछ पशुवाहन हैं, तो कुछ यान्त्रिक वाहन के प्रतीक प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त निघण्टुकार ने आदिष्टोपयोजन प्रकरण में विशेषरूप से इस प्रकार के शब्दों का परिगणन किया है, जो अश्ववाचक गण में परिगणित वाहन की अपेक्षा शीघ्र गन्तव्य तक पहुँचाने में समर्थ हैं। सम्भवत: इसी कारण उक्त गण का नामकरण आदिष्टोपयोजन किया गया है, जैसे- **रोहिताग्नेः**-यह एक आकाश में आरोहण करने में समर्थ अग्नि सञ्चालित वाहन विशेष है। ऋग्वेद कहता है कि हे मरुतो! अपने रथों में पृषती को संयुक्त करो। रोहित प्रष्टि का वहन करता है। जब यह रथ चलता है, तब पृथ्वी इसकी गर्जना को सुनती है तथा मनुष्य इसकी चलने की ध्वनि को सुनकर भयभीत हो जाते हैं।[७] सायण 'पृषती' का अर्थ 'मृगी' तथा स्वामी दयानन्द 'वायु' ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार सायण 'रोहितः' का अर्थ 'मृगविशेष' तथा स्वामी

---

६. निघ०१.१४.

७. ऋ०,१.३९.६. "उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टिर्वहति रोहितः। आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः।" तु०, ऋ०,८.७.२८.

दयानन्द 'अग्नि' करते हैं।[८] एक अन्य मन्त्र कहता है कि जब अग्नि (विद्वान्) आरोचमान वर्ण वाले रोहित को रथ में संयुक्त करता है, तब उसका वेग वायु से तीव्र और गर्जना वृषभ के समान होती है। धूम के चिह्न वाला वह गतिशील अग्नि मार्ग को व्याप्त करता है। विद्वान् और अग्नि की इस मित्रता से हमें कष्ट प्राप्त न हो।[९] कुछ स्थलों पर रोहित को प्रष्टि को खींचने वाला, इसके चलने से पृथिवीस्थित मनुष्य भयभीत, इसकी गति वायु और मन से भी तीव्र, वृषभ के समान गर्जना करने वाला, धूम के चिह्न वाला-इस प्रकार रोहित का चित्रण एक वाहन के रूप में हुआ है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह एक अग्नि सञ्चालित वाहन विशेष है, जो आकाश में आरोहण करने में समर्थ है। इस कथ्य का समर्थन **'रोहित'** नामकरण से भी होता हुआ दिखायी देता है। इसी प्रकार **रासभाविश्वनोः**-रासभ द्वारा वहन किये जाने वाले रथ में वेद तीन चक्र और और अनेक बैठने के मण्डप बतला रहा है। वेद कहता है कि वह वाहन 'रासभ' है, जो तीन चक्र, तीन वन्धुर वाले रथ में बैठाकर अश्विनीदेवों को यज्ञ में ले जाता है,[१०] यह शीघ्रगामी एवं बलवान् पैरों वाला है और देवों से प्रेरित होकर यह यमराज के युद्ध में सहस्रों को मारकर जीत लेता है,[११] इसकी एक विशेषता यह भी है कि यह चलते हुए शब्द करता है, अश्विनीदेव इसे अपने रथ में संयुक्त करते हैं। इस प्रकार यह एक वाहन विशेष है।

वेद के विषय में यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लेना उचित होगा कि यद्यपि इसमें वाहन के विषय में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है, तथापि यह ज्ञान प्रयोगात्मक रूप में नहीं हैं, कम से कम विज्ञान की उस भाषा में नहीं है, जिसमें आज विज्ञान पढ़ा और समझा जाता है। वेद में सम्बन्धित शास्त्र के ज्ञान का प्रयोगात्मक स्वरूप स्पष्ट करने के लिये ऋषियों ने वेदों के उपवेद निर्मित किये थे। इसको इस प्रकार समझ सकते हैं कि यदि वेद संकल्पना है तो उपवेद उसका प्रयोगात्मक स्वरूप हैं। प्रस्तुत आलेख का प्रमुख विषय वाहन के रूप में अश्व है। हम यहाँ अश्व का अध्ययन करने के लिये वैदिक परम्परा को उद्धृत करते हुए अश्व का अध्ययन करेंगे।

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'अश्वाः' पद परिगणित है।[१२] शतपथ-ब्राह्मण 'अश्व' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-**"अथ यदश्रु सङ्क्षरितमासीत्सोऽश्रुरभवदश्रुर्ह वै**

८. द्रष्टव्य, सायण एवं दयानन्द, ऋग्भाष्य,१.३९.६.

९. ऋ०,१.९४.१०. "यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः। आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।"

१०. ऋ०,१.३४.९. "क्व१ त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व१ त्रयो वन्धुरो ये सनीळाः। कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः।"

११. ऋ०,१.११६.२. "वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना। तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय।"

१२. निघ०,१.१४.२६.

तमश्व इत्याचक्षते परोऽक्षम्"[१३] कि सङ्क्षरित होते हुए अश्रु ही परोक्ष में 'अश्व' कहे जाते हैं। इस पक्ष में 'अश्रु' से 'अश्व' शब्द उपपन्न होता है। एक अन्य स्थान पर भी शतपथ-ब्राह्मण इसी प्रकार 'अश्व' पद का निर्वचन करता है।[१४]

काठकसङ्कलन में कहा गया है:-**"अश्रुभ्येव (प्रजापतेः) अश्वोऽजायत"**[१५] कि प्रजापति के अश्रुओं से ही अश्व उत्पन्न हुआ, अतः, वह 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अश्व' पद सिद्ध होता है।

तैत्तिरीय-संहिता का कथन है:-**"प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्तत्परापतत् तदश्वोऽभवत् तदश्वस्याश्वत्वम्"**[१६] कि प्रजापति के अश्रुपूर्ण चक्षु से नीचे गिरने वाले अश्रु से अश्व उत्पन्न हुआ, यही अश्व का अश्वत्व है। इस पक्ष में 'श्वि' धातु से 'अश्व' रूप उपपन्न होता है।

मैत्रायणी-संहिता कहती है:-**"प्रजापतेर्वै चक्षुरश्वयत्, तस्य यः श्वयथा आसीत्, सोऽश्वोऽभवत्"**[१७] कि प्रजापति की अक्षि अश्रु से पूर्ण होगयी, उसका जो बढ़ा हुआ रूप था, वही अश्व होगया। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अश्व' रूप सिद्ध होता है।

शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-**"वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेष तदश्वयत्ततोऽश्वः समभवत्तद्यच्छ्वयथात् समभवत् तस्मादश्वो नाम"**[१८] कि वरुण ने सोम राजा की अक्षि को दुःखित कर दिया, उससे वह अश्रु से भर गयी, उससे अश्व उत्पन्न हुआ। प्रजापति की भरी आँख से उत्पन्न होने के कारण यह 'अश्व' कहलाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-**"प्रजापतिरक्ष्यश्वयत् तत् परापतत्। तदपः प्राविशत्। ततोऽश्वस्समभवत्। यदश्वयत् तस्मादश्वः"**[१९] कि प्रजापति की आँख भर गयी, उससे अश्रु गिरा, वह जल में प्रवेश कर गया। उससे अश्व उत्पन्न हुआ। अश्रु या जल के वृद्धिरूप से उत्पन्न होने के कारण यह 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अश्व' पद उपपन्न होता है।

ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है:-**"तान् (असुरान् देवाः) अश्वा भूत्वा पद्भिरपाघ्नत, यदश्वा भूत्वा पद्भिरपाघ्नत, तदश्वानामश्वत्वमश्नुते यद्यत्कामयते य एवं वेद"**[२०] कि देवताओं ने उन असुरों को अश्वरूप होकर पैरों से मारा, जो पैरों से मारा, जो इस प्रकार जानता

१३. शत०ब्रा०,६.१.१.११.
१४. शत०ब्रा०,६.३.१.२८. "यद्वै तदश्रु सङ्क्षरितमासीदेष सोऽश्वः।"
१५. काठ०संक०,१७:७.
१६. तै०सं०,५.३.१२.१.
१७. मै०सं०,१.६.४.
१८. शत०ब्रा०,४.२.१.११.
१९. जै०ब्रा०,२.२६८. (तुल०, तै०सं०,५.३.१२.१. मै०सं०,१.६.४.)
२०. ऐ०ब्रा०,५.१.

है, वह अश्वों के अश्वत्व को प्राप्त कर लेता है। इस पक्ष में 'अश' व्याप्तौ' धातु से 'अश्व' पद उपपन्न होता है।

तैत्तिरीय-संहिता कहती है:-"**आशुः सप्तिरित्याह। अश्व एव जवं धावति। तस्मात् पुराशुरश्वोऽजायत**"[२१] कि अश्व को 'आशुः' और 'सप्तिः' कहा जाता है। अश्व ही वेगपूर्वक दौड़ता है, इस कारण पुराकाल में आशु से ही 'अश्व' उत्पन्न हुआ। इस पक्ष में 'आशु' से 'अश्व' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'अश्व' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अश्वः कस्माद्? अश्नुतेऽध्वानम्**"[२२] कि मार्ग को शीघ्रता से व्याप्त करने के कारण अश्व को 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु से 'अश्व' शब्द व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार का निर्वचन यास्क ने कुछ अन्य स्थानों पर भी किया है।[२३]

(ख)"महाशनो भवतीति वा"[२४] कि बहुत अधिक भक्षण करने के कारण अश्व को 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अश' भोजने' धातु से 'अश्व' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् यास्क का अनुसरण करते हुए 'अश्व' शब्द के निम्न निर्वचन देते हैं:-"**अश्नोतेर्वा**"[२५] कि मार्ग को व्याप्त करने के कारण अश्व को 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अश्' व्याप्तौ 'क्वुन्' से 'अश्व' शब्द सिद्ध होता है। उणादिकोष इसी प्रकार 'अश्व' शब्द को व्युत्पन्न करता है।[२६]

(ख)"अश्नुवतेऽध्वानं महाशना भवन्तीति वा"[२७] कि ये मार्ग को व्याप्त तथा अत्यधिक भक्षण करते हैं, अतः, इनको 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में भोजनार्थक या व्याप्त्यर्थक 'अश्' धातु से पूर्ववत् 'अश्व' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अश्व' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानता है।[२८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अश्व' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[२९] मोनियर विलियम्स 'अश्व' को 'अश्' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद अश्व और साँड़ अर्थ में आया है।[३०] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'ल्व्द' अश्व अर्थ में तथा लैटिन

२१. तै०सं०,३.८.१३.८.
२२. निरु०,२.२६.
२३. निरु०,१.१२, ७.२०.
२४. निरु०,२.२६.
२५. निघ०वृ०,१.१४.२६.
२६. उणा०,१.१५१. "अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्।"
२७. निघ०वृ०,१.१४.२६.
२८. वै०पद०को० पृ०,५७९.
२९. ऋ०वै०पद० पृ०,६७.
३०. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०,११४.

में 'ल्लि' अश्व अर्थ में है। वे उक्त निर्वचन को **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[३१] वेद से प्राप्त सङ्केत 'अश्व' को 'अश्' धातुमूलक सिद्ध करते हैं।[३२]

वैदिक साहित्य में 'अश्व' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में शुन:शेप ऋषि कहते हैं कि हे वरुण! सुख के लिये हम तेरे मन को इस प्रकार बाँधते हैं, जिस प्रकार रथ का स्वामी दूरगमन से श्रान्त अश्व को घास आदि के द्वारा प्रसन्न करता है।[३३] अग्रिम सूक्त में पुन: शुन:शेप ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार उत्तम केश वाला अश्व वन्दनीय होता है, उसी प्रकार यज्ञों के सम्राट्रूप अग्नि की हम हवि आदि से स्तुति करते हैं।[३४] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेव शीघ्र और विना कष्ट पहुँचने के लिये श्वेत अश्व अर्थात् विद्युत्रूप अश्व प्रदान करते हैं, वह अश्व नित्य कल्याण करने वाला हो।[३५] एक अन्य सूक्त में पुन: कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे नेतृत्व करने वाले अश्विनीदेवो! सूर्य की युवा पुत्री प्रसन्नता से आप दोनों के रथ पर आरूढ होती है। अहिंसित शरीर वाले अश्व तुम्हारे रथ को घर के समीप पहुँचायें।[३६] उक्त मन्त्र की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है:-'इस सङ्ग्राम में गमन करते हुए रक्तवर्ण पक्षियों के समान शीघ्रगामी अश्व (अग्नि) तुम दोनों को सब ओर पहुँचायें।' इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! तुम दोनों इन्द्र से भी अधिक वेगवान् एवं मेघवध करने वाले श्वेत अश्व को पेदु (आवागमन करने वाले) को प्रदान करते हो।[३७] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि अग्निरूप दूत को अश्व (इंजन) का निर्माण करने वाला कहा गया है और यही यान (रथ) का भी निर्माण करने वाला है।[३८] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि अन्तरिक्ष विद्या में कुशल शिल्पी (सौधन्वन:) अश्व अर्थात् वेगवान् पदार्थ विद्युत् आदि से अश्व का निर्माण करते हैं और उसको रथ में जोड़कर दिव्यपदार्थों को प्राप्त करते हैं।[३९] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि अश्वरूप अग्नि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नियमन करने वाला अग्नि इस अश्वविद्या को प्रदान करता है। तीनों स्थानों में रहने वाला वायु इसे रथ में नियोजित करता है। सबसे मुख्य इन्द्र इस पर अधिष्ठित होता है। गन्धर्व (सोम) रशना को ग्रहण करते हैं और वसुगण सूर्य से अश्व का निर्माण करते हैं।[४०] इस सूक्त

---

३१. दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ०,८६.

३२. ऋ०,१.११३.८, १६३.१०, यजु०,२५.३२, २९.२१, सा०उ०,९५०.

३३. ऋ०,१.२५.३. ''वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम्। गीर्भिर्वरुण सीमहि।''

३४. ऋ०,१.२७.१. ''अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभि:। सम्राजन्तमध्वराणाम्।''

३५. ऋ०,१.११६.५. ''यमश्विना ददथु: श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।''

३६. ऋ०,१.११८.५. ''आ वां रथं युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य। परि वामश्वा वपुष: पतङ्गा वयो वहन्त्वरुषा अभीके।''

३७. ऋ०,१.११८.९. ''युवं श्वेतं पेदव इन्द्रजूतमहिहनमश्विनादत्तमश्वम्।''

३८. ऋ०,१.१६१.३. ''अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतनाश्व: कर्त्वो रथ उतेह कर्त्व:।''

३९. ऋ०,१.१६१.७. ''सौधन्वन अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवाँ अयातन।''

४०. ऋ०,१.१६३.२. ''यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट।''

के अन्तिम मन्त्र में ऋषि कहता है कि ये अन्त तक कम्पनशील, मध्यभाग कुछ हटा हुआ, अत्यधिक वेगवान् और ये दिव्य पदार्थों से निर्मित किये जाते हैं। जिस प्रकार हंस पङ्क्तिबद्ध होकर उड़ते हैं, उसी प्रकार ये अश्व भी दिव्यमार्ग को व्याप्त करते हैं।[४१] ब्रह्मातिथि ऋषि अश्विनीदेवों को श्येन के समान द्रुतगामी अश्वों से आने का निवेदन करते हैं।[४२] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि अग्नि श्वेत अश्व है।[४३] एक अन्य स्थान पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि अश्व देवताओं का वाहन नहीं है, इसलिये यह अग्नि ही अश्व होकर सब देवताओं के लिये यज्ञ को वहन करता है।[४४] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि इन अङ्गिरसों के लिये आदित्य ही श्वेत अश्वरूप धारण किये आदित्य को बनाकर ले आये।[४५] तैत्तिरीय-ब्राह्मण कहता है कि वे अङ्गिरस आदित्यों के लिये इस श्वेतरूप धारण किये हुए आदित्यरूप अश्व को दक्षिणा में ले आयें।[४६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वह अश्व है, जिसे रथ का स्वामी घास आदि प्रदान करके प्रसन्न करता है, उत्तम केशवाला अश्व अग्नि के समान सम्राट् होने से वन्दनीय होता है, अश्विनीदेव जिस श्वेत अश्व को प्रदान करते हैं, वह नित्य कल्याण करने वाला है, अश्विनीदेव के जिस रथ पर सूर्य की युवा पुत्री प्रसन्नता से आरूढ होती है, उसको ये अश्व घर के समीप ले जाते हैं, अश्विनीदेव (वैज्ञानिक) आवागमन करने वाले के लिये श्वेत अश्व प्रदान करते हैं, अग्नि ही अश्व और वही रथ का भी निर्माण करने वाला है, कहीं ऋषि यम (अग्नि) को अश्वविद्या का प्रदाता, वायु को नियोक्ता, इन्द्र को अधिष्ठाता, गन्धर्व (सोम) को सारथि और वसुओं को सूर्य से अश्व का निर्माण करने वाला बतलाता है, ये अश्व अन्त तक कम्पनशील, मध्यभाग कुछ हटा हुआ, वेगवान् और दिव्य पदार्थों से निर्मित होते हैं, हंसों के समान श्रेणी में चलते हुए ये दिव्य मार्ग को व्याप्त करते हैं, इनकी गति ऋषि ने श्येन के समान बतलायी है। ब्राह्मणग्रन्थ अग्नि का श्वेत अश्व के रूप में उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि यह अग्नि ही अश्व बनकर यज्ञभाग उन तक पहुँचाता है, अङ्गिरस या अङ्गिरसों के लिये आदित्य ही आदित्य को श्वेत अश्व बनाकर ले आते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वर्णित अश्व तीन प्रकार के हैं:-प्रथम-लोकप्रचलित अश्व, द्वितीय-अग्निरूप श्वेत अश्व, तृतीय-आदित्यरूप

४१. ऋ०,१.१६३.१०. "ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः। हंसाइव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः।"

४२. ऋ०,८.५.७. "आ नः स्तोममुप द्रवत्तूयं श्येनेभिराशुभिः यातमश्वेभिरश्विना।"

४३. शत०ब्रा०,३.६.२.५. "अग्निर्वा अश्वः श्वेतः।"

४४. शत०ब्रा०,१.४.१.३०. "अश्वो न देववाहन इति। अश्वो ह वाऽएष (अग्निः) भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति।"

४५. जै०ब्रा०,३.१८८. "एतेभ्य (अङ्गिरोभ्यः) एतमादित्या एतमादित्यमेवाश्वं श्वेतं भूतम्..................... आनयन्।"

४६. तै०ब्रा०,३.९.२१.१. "तेऽङ्गिरस आदित्येभ्य अमुमादित्यमश्वं श्वेतं भूतं दक्षिणामनयन्।"

श्वेत अश्व। वेद स्पष्टरूप से अश्व के लिये 'अतक्षत' (निर्माण किया) और 'निरतष्ट' (निर्माण किया) क्रिया का प्रयोग करता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि द्वितीय तथा तृतीय वर्ग के अश्वों को निर्माण किया जाता था। द्वितीय वर्ग के अश्वों के निर्माता ऋभुगण माने गये हैं। निघण्टुकार ने 'ऋभु' को मेधावी नाम में परिगणित किया है।[४७] इस प्रकार ऋभु नामक वैज्ञानिकों के द्वारा अग्नि के सहयोग से निर्मित होने वाला यान वेद की दृष्टि में 'अश्व' हैं। इनके निर्माताओं को वेद 'सौधन्वनः' नाम से भी पुकारता है। निघण्टुकोष के अन्तरिक्षवाचक नामपदों में 'धन्व' पद परिगणित है।[४८] अन्तरिक्षविद्या में कुशल ऋषि का नाम 'सुधन्वा' है, उसके शिष्य या सन्तानों को वेद सम्भवतः, 'सौधन्वनः' नाम से अभिहित कर रहा है। उक्त ऋषियों के द्वारा निर्मित अश्व श्वेतवर्ण, विना कष्ट के गन्तव्य तक ले जाने और नित्य कल्याण करने वाले बतलाये गये हैं। इसकी गति इन्द्र (विद्युत्) से भी तीव्र मानी गयी है। कहीं उक्त प्रकार के यानों का निर्माण करने वाले के रूप में वेद अश्विनीदेवों का भी उल्लेख करता है। अश्विनीदेव देवशिल्पी माने जाते हैं। सम्भवतः, अश्व-निर्माण-विद्या में कुशल होने के कारण अश्विनीदेवों का उक्त नामकरण हुआ है। तृतीय प्रकार के अश्वों (यानों) का निर्माण करने वालों के रूप में ब्राह्मणग्रन्थ अङ्गिरस ऋषियों का उल्लेख करते हैं। इन्होंने सूर्य से श्वेत अश्व का निर्माण किया है, ये अश्व सौर ऊर्जा से सञ्चालित रहे प्रतीत होते हैं। सम्भवतः, इसलिये वेद ने इनको सूर्य से निर्मित होने वाला बतलाया है। इसके अतिरिक्त अन्तरिक्षीय पदार्थों से निर्मित होने के कारण इनको ऋषि 'दिव्य' बतलाता है। यह अश्व (यान) यमविद्या के अनुसार निर्मित, वायु से नियुक्त, इन्द्र से अधिष्ठित, गन्धर्व द्वारा नियन्त्रित और सूर्य से सञ्चालित हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के अश्वों में एक समान विशेषता पायी जाती है कि ये शीघ्रता से गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु को 'अश्व' पद का मूल माना जा सकता है।

प्रो० ज्ञान प्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

---

४७. निघ०,३.१५.८.
४८. निघ०,१.३.५.

वैदिक साहित्य में राज्य की उत्पत्ति विकास के सिद्धान्त

राज्य संस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद से ही विचार प्रारम्भ हो गया था और ब्राह्मण ग्रन्थों के काल तक इस सिद्धान्त की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी। उपनिषद्, सूत्र-साहित्य, स्मृति-साहित्य, रामायण, महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में तत्कालीन राजनीति के विशेषज्ञ आचार्यों ने वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित राज्य संस्था के उद्भव और विकास के सिद्धान्तों का विस्तार से प्रतिपादन किया है। वैदिक काल में राज्य संस्था के उद्भव के निम्नलिखित सिद्धान्त विकसित हो चुके थे-

1. अराजक सिद्धान्त (मात्स्य न्याय)

2. युद्ध सिद्धान्त

3. अनुबन्ध सिद्धान्त

4. दैवी सिद्धान्त

5. विकास का सिद्धान्त

अराजक सिद्धान्त 'मात्स्य न्याय'

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में कोई राजा नहीं था। जिससे व्यवस्था का संचालन नहीं हो पाता था। समाज अस्त व्यस्त था। बलवान् अपनी शक्ति के बल पर निर्बल को प्रताड़ित करता था। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार की अव्यवस्था थी। इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम विवेचन अथर्ववेद में मिलता है। इसके अनुसार इस अराजक स्थिति में सबके मन में भय बना रहता था कि कोई हमारी हानि न कर दे। इस भय से मुक्ति पाने के लिए इस समस्या पर विचार किया गया। इस विचार के बाद एक हलचल पैदा हुई। (उत्क्रान्ति हुई) जिसके परिणाम स्वरूप राजसंस्था के उद्भव की प्रक्रिया शुरू हुई और वह सर्वप्रथम कुल के रूप में सामने आयी।[1]

इस अराजक स्थिति की चर्चा का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में निम्नलिखित रूप में हुआ है- "कि सृष्टि के आदि में सम्पूर्ण समाज एकात्मक रूप से मिला हुआ था। उसमें राजा और प्रजा का कोई भेद नहीं था। सब कुछ अव्यवस्थित था। इसको व्यवस्थित करने के लिए सर्वप्रथम देवताओं के लिए राजा की उत्पत्ति की और उसके बाद मनुष्यों के राजा की" इसके बाद समाज का विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में किया।[2]

इस विवेचन से स्पष्ट आभास होता है कि अराजक स्थिति के बाद राज्य की प्रक्रिया सर्वप्रथम देवों में प्रारम्भ हुई। पुनः देवों के अनुकरण स्वरूप मानव समाज में भी

1 विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जाताया: सर्वविभेदियमेवेदं भविष्यतीति सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्। अर्थव0 8.10.1-2

2 शत0 ब्रा0 14. 1.2.23

राज्य की प्रक्रिया हुई। व्यास ने महाभारत[3] में उल्लेख किया है कि सृष्टि उत्पत्ति के बाद बहुत काल तक उत्तम प्रकार की व्यवस्था का शासन चलता रहा। उस समय न कोई शासक था और न शासन संस्था थी। प्रजा धर्म का पालन करती हुई एक दूसरे की रक्षा करती थी कुछ समय के बाद मोह और अज्ञान ने जन्म लिया, लोभ और स्वार्थ की वृद्धि स्वरूप मात्स्य न्याय की वृद्धि हुई। महाभारत में इसी मात्स्य न्याय का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि-"अराजक देश भयावह होता है। वहाँ पर अपराधी व्यक्ति भी सुखी नहीं रहते। श्रेष्ठों को दास बना लिया जाता है। स्त्रियों का बलपूर्वक हरण कर लिया जाता है। इसलिए देवताओं ने राजा का निर्माण किया।[4]"

इसी प्रकार कौटिल्य ने अराजक स्थिति से राज की उत्पत्ति का वर्णन किया है। मात्स्य न्याय से दु:खी जनता ने सर्वप्रथम वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया। राजा को उसकी सेवा एवं सुव्यवस्था के प्रतिरूप में कर देने की व्यवस्था की।[5]

युद्ध सिद्धान्त

इस सिद्धान्त की सर्वप्रथम सूचना ऋग्वेद में उपलब्ध है। जो देवासुर संग्राम के माध्यम से प्रकट हुई है। अनेक मन्त्रों में शत्रुओं को नष्ट करने की प्रार्थना की गई है। इन्द्र को देवों का राजा माना गया है, वह देवों का सेनापति भी है। उसका आयुध वज्र है और वह वज्र से ही असुरों का संहार करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित है कि असुरों को मारने के बाद इन्द्र महेन्द्र बना था।[6]

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवासुर संग्राम में असुरों ने देवों को परास्त कर दिया। इस पर देवों ने कहा कि राजा न होने के कारण असुर हम को जीत लेते हैं। अत: हमको राजा का चयन कर लेना चाहिए। उन्होंने सोम को अपना राजा बनाकर सब दिशाओं में विजय प्राप्त की।[7] कौषीतकि ब्राह्मण में कहा गया है कि- एक बार देवों को असुरों ने प्राची और उदीची दिशाओं के मध्य में रोक लिया। तब देवों ने इस दिशा में सोम को राजा बनाकर असुरों को भाग दिया।[8] राजा का चयन इसलिए किया जाता था कि वह असुरों का वध करें। वैदिक काल में महान् युद्धों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि युद्ध

3 महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 59

4 महाभारत शा0 अ0 67, 13-17 ऋग् 1.51.8.9. शतं सेना अजयत् साकं इन्द्र:। यजु0 17.3 आदि

5 कौ0 अर्थ0 1.9 मात्स्यन्यायाभिभूता: प्रजा: मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे....।

6 ऐत0 ब्रा0 12.10, शत0 ब्रा0 1.5.3.21

7 वैदिक इन्डेक्स भाग-2 पृ0 234-45

8 देवासुर वा एषु लोकेषु समयतन्त...... ताँस्तेऽसुरा अजयन्.........ते देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयंति। राजानंकरवामहा, तथैति सोमं रांजानमकुर्वस्ते सोमेन राज्ञा सर्वादिशोऽजयन्। ऐत0 ब्रा 3.3, असुरा वा अस्यां दिशि देवान्त्समरून्धननेयं ....त एतस्यां दिशि सन्त: सोमं राज्यायाभ्यषिञ्चन्त, ते सोमेन राज्ञैभ्यो लोकेभ्योऽसुराननुदन्त.... कौष0 ब्रा0 7.10

की आवश्यकताओं से विवश होकर ही राज्य संस्था का प्रादुर्भव हुआ। वर्तमान विचारक भी राज्य संस्था के विकास में युद्ध को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं।[9]

अनुबन्ध सिद्धान्त (जैमवतल वाँ वबपंस ब्वदजतंबज)

राज्य संस्था के उद्भव के इतिहास में अनुबन्ध का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। यह सिद्धान्त वैदिक काल से ही प्रकाश में आ गया था। इस सिद्धान्त का भाव यह है कि राष्ट्र की प्रजा द्वारा परस्पर विचार विमर्श करके आपसी सहमति से विशेष शर्तों के अनुसार किसी को राजा बनाना। वैदिक साहित्य में अनुबन्ध सिद्धान्त का विवेचन स्पष्ट रूप से हुआ है। अतः स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त वैदिक युग से ही प्रकाश में आ गया था।

आधुनिक पाश्चात्त्य विद्वानों ने अनुबन्ध के सिद्धान्त का विस्तार से परिचय दिया है। 17वीं शताब्दी हॉब्स, लॉक और रूसो ने इसका प्रतिपादन किया था। हॉब्स ने अनुबन्ध के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, उसके अनुसार राजा की शक्तियाँ असीमित थीं। व्यक्ति का अधिकार शून्य था। हाब्स ने राजा के अतिरिक्त समाज की स्वतन्त्र सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया। यद्यपि हाब्स का विचार है कि अनुबन्ध का उपयोग विवेक के आधार पर और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए होना चाहिए।[10]

लॉक के अनुसार न्यायपालिका और कार्यपलिका के पास नैसर्गिक विधि के कार्यान्वयन के लिए शक्ति होती है, उसके उल्लंघन करने पर अपराधी को उसी अनुपात में दण्ड मिलता है अर्थात् लाक के सिद्धान्त में बहुमत के शासन का जन्म हुआ और सरकार को न्याय के रूप में माना गया। परिणाम स्वरूप सरकार का संचालन निश्चित विधि से हो सकता है।[11]

रूसो के अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता थी और राष्ट्र में आदर और शक्ति की स्थिति थी।

इस अनुबन्धवाद से राज्य के विकास में दो महत्त्वपूर्ण लाभ हुए-

(क)राज्य की सरकार या समाज की उत्पत्ति पर लौकिक भावना से विचार हुआ।

(ख)प्रताड़ना के विपरीत न्याय एवं सुरक्षा की भावना का विकास हुआ।

उपर्युक्त पाश्चात्त्य विचारकों ने यह माना है कि प्राचीन समय में अराजक अवस्था, प्राकृतिक अवस्था थी। इस समय सब लोग जंगली पशुओं के समान आपस में लड़ते थे और कोई न्याय व्यवस्था नहीं थी। सबने परस्पर समझौता करके एक योग्य शक्तिशाली वीर पुरुष को अनुबन्ध (सहमति) के आधार पर राज का कार्य सौंपा। सामान्य इच्छा के आधार

9 यजु0 1.13,9.38। इन्द्रो... तास्मिन्महत्स्वाजिषु..... ऋग0 1.81.1

10 डब्ल्यू. फेडमेन: लीगल थ्योरी, पृ0 39 (सन्दर्भ उदधृत प्राचीन भारत में राज्य और न्याय पालिका अध्याय प्रथम)

11 लॉक : टू ट्रीटिसेस, बी.के. संकण्ड एस.एच. 2 (सम)

पर निर्धारित किये गये नियमों का पालन करने का वचन दिया। यही संस्था बाद में राज्य के रूप में परिणत हो गई। इस अनुबन्ध के सिद्धान्त से प्रभावित होकर यूरोप में राज्य के स्वरूप, संगठन, कर्त्तव्य और अधिकार आदि में परिवर्तन करके राज्य को लौकिक दृष्टि से उपयोगी बनाने का सफल प्रयास किया गया। अल्तेकर महोदय का कथन है कि हॉब्स और लॉक ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है-वह अर्द्ध धार्मिक एवं अर्द्ध लौकिक दृष्टि से ही किया है। वह न तो समस्या की गहराई तक पहुँच सके और न ही राजा और प्रजा के अधिकारों की सीमा को स्पष्ट कर सके; पाश्चात्त्य विचारकों ने यह तो प्रतिपादित किया था कि- राज्य के द्वारा किये गये संरक्षण और सेवा के प्रतिरूप में प्रजा राजा को कर देती हैं तथा राजकीय नियमों का पालन करती है। इसके साथ उसका यह भी अधिकार होगा कि यदि राजा अपने कर्त्तव्य को छोड़ेगा तो प्रजा उसे गद्दी से हटा देगी या मार देगी। परन्तु इन विचारकों ने यह नहीं बताया कि वह किन परिस्थितियों में इस प्रकार का आचरण करेगी? वैदिक अनुबन्ध सिद्धान्त में आततायी राजा अथवा अपने कर्त्तव्य का पालन न करने वाले राजा को पदच्युत करने या दण्डित करने का जो अधिकार दिया गया है।[12] इससे स्पष्ट है कि प्रजा ही राजसत्ता की मूल अधिकारिणी है। उसी में सर्वोच्च सत्ता निहित है।

वैदिक अनुबन्ध सिद्धान्त

भारत के लिए राज्य के अनुबन्ध का सिद्धान्त नवीन नहीं है। वैदिक संहिताओं में अनुबन्ध के सिद्धान्त का पर्याप्त विवेचन हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को कुछ प्रतिज्ञायें करनी होती थीं, जिनके अनुसार वह वचन देकर कुछ कर्त्तव्यों में बँधता था। ये वचन राजा स्वेच्छा से नहीं देता था, अपितु संविधान द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार ही उसको वचन देना होता था। इस समय की जाने वाली प्रतिज्ञाओं एवं वचनों की घोषणा वैदिक संहिताओं के मन्त्रों से ही की जाती थी, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि अनुबन्ध सिद्धान्त वैदिक संहिताओं की देन है। इस विषय में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत हैं-

संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित अनुबन्ध की विषय वस्तुः

ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है कि युद्ध जन्य परिस्थितियों से त्राण पाने के लिए राज्य संस्था और राजा का उद्भव हुआ था। युद्ध सिद्धान्त के अनुसार राजा वही हो सकता था, जो स्वयं योद्धा हो और युद्ध का संचालन कर सके। इस विषय की चर्चा ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होती है। इन्द्र ही सबसे अधिक ओजस्वी, सबसे अधिक बलवान्, सबसे अधिक शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ और प्रजा के लिए अत्यन्त साधु पुरुष है। वही प्रारम्भ किए हुए कार्य को निश्चित रूप से सफल बनाने वाला है। इसलिए हम इन्द्र का ही

12 क्षत्रियो ह वै राष्ट्राच्च्यवतेयो वै परो भवति .... ऐत0 ब्रा0 29.6

अभिषेक करते हैं। यह सोचकर उन्होंने इन्द्र का राज्य के लिए अभिषेक किया।[13]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजा में वे गुण होने चाहिए जो युद्ध में शत्रुओं को परास्त कर सके। प्रजा का पालन कर सके और राज्य का ठीक रूप में संचालन कर सके। राज्यपद प्राप्त करने के बाद भी राजा को इन गुणों को धारण करना होता था। जब उसमें इन गुणों का अभाव हो जाता था तो वह राज्यपद के अयोग्य हो जाता था। इस प्रकार के अयोग्य राजा का राजपद को स्वयं त्याग देना अथवा प्रजा द्वारा पदच्युत किया जाना स्वाभाविक था। पुनः दूसरे राजा को राजपद पर नियुक्त करते समय उस भावी राजा और जनता के बीच कोई न कोई अनुबन्ध किया जाना आवश्यक था। जिसका पालन राजा व प्रजा दोनों के लिए अनिवार्य था। इस बात की पुष्टि अभिषेक के समय राजा को दिये गये "धृतव्रत" विशेषण से होती है। इसका अर्थ है जो नियमों को धारण करे। वे नियम जो शासन के लिए बनाए जाते थे, उनको राजा धारण करता था। उनको पालन करने की प्रतिज्ञा करता था। तब कहा जाता था कि यह व्रत धारण करके "धृतव्रत" हो गया है।[14]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भावी राजा को राजा बनाने से पहले राज्याभिषेक अनिवार्य रूप से कराना होता था। इसी नियम के कारण सर्वप्रथम देवों ने इन्द्र का अभिषेक किया था। अभिषेक के समय स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी जाती थी कि राष्ट्र की प्रजा अमुक पुरुष को अपना राजा इसलिए बना रही है कि वह उसके कल्याण का कार्य करेगा, वह तभी तक राजा रहेगा जब तक प्रजा का कल्याण करता रहेगा। जिस समय वह अपने कर्त्तव्य से विमुख होगा तो पदच्युत कर दिया जाएगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए निम्न लिखित सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं, जिसमें स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रस्तावित राजा को यह पद निश्चित सिद्धान्तों नियमों और प्रतिबन्धों के आधार पर दिया जा रहा है। पुरोहित प्रजा के सामने भावी राजा को सम्बोधित करते हुए घोषणा करता है कि "हे भावी राजन्!" मैं कृषि के विकास के लिए, समृद्धि प्राप्त करने के लिए, सार्वजनिक कल्याण के लिए, सबका पालन-पोषण करने के लिए, राजपद पर आपका अभिषेक करता हूँ।[15]"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कुछ निश्चित प्रतिबन्धों एवं नियमों के साथ राजा का पद दिया गया है।

अन्यत्र उल्लेख है कि पुरोहित भावी राजा को सम्बोधित करके सबके सामने

13 ते देवा अब्रुवन् स प्रजापतिका -अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम् इममेवाभिषिञ्चामहा इति, तथेति, तद्वै तदिन्द्रमेव। ऐत0 ब्रा0 38.1

14 ऋग् 8.27.3, 1.25.10, ऐत0 ब्रा0 39.4 द्र0 सा0 भा0 वही-धृतव्रतः स्वीकृत नियमः शत0 ब्रा0 5.4.1. 5-धृतव्रतौ वै राजा न वा एष सर्वस्या इव वदनाय न सर्वस्या इव कर्मणे यदेव साधुवदेत यत् साधु कुर्यात्। राजन् वरुण ....धृतव्रतो राजा। अथर्व0 7.83.1

15 राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति अथैनमासादयति...कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा....शत0 ब्रा0 5.1.6. 25, इसी प्रकार के भाव मा0शु0य0 सं 9.22 में भी हैं।

घोषणा कर रहा है कि-"मैं तुझे इन्द्र के समान पराक्रम करने के लिए, रुद्र के समान शत्रुओं को रुलाने वाले बल के लिए, सूर्य के समान ओजस्विता के लिए, श्येन नामक पक्षी के समान शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए, अग्नि के समान तेजस्वी बने रहने के लिए, धन और पुष्टिकारक पदार्थों को प्राप्त करने के लिए, स्वीकार करता हूँ।[16]"

शतपथ ब्राह्मण में माध्यन्दिन संहिता के मन्त्र का सन्दर्भ देते हुए कहा गया है कि "हे श्रेष्ठ प्रजाजनो! इस महान् शक्ति के लिए, ज्येष्ठता के लिए, महान् गौरव के लिए, विशाल मनुष्यों के राज्य के लिए, परम ऐश्वर्य सम्पन्न सुख और उपभोग के लिए, अमुक पुरुष के इस पुत्र को, अमुक स्त्री के पुत्र को, इस सम्पूर्ण जनता के लिए, राज्य सिंहासन पर बैठा कर राज्य का संचालन करने के लिए अभिषिक्त करो। हे दिव्य शक्तियों से युक्त देवो! आप भी हमारे इस राजा को शत्रुओं से मुक्त रखो।[17]"

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्याभिषेक से सम्बन्धित घोषणाएँ की गई हैं। जिनमें अनुबन्ध सिद्धान्त की पुष्टि होती है। ऐतरेय ब्राह्मण की निम्न घोषणाएँ इस विषय में द्रष्टव्य हैं।

हे अभिषिच्यमान क्षत्रिय राजन्। सविता देव की प्रेरणा से अश्विन् देवों के बाँहों से, पूषा देव के हाथों से, अग्नि देव के तेज से, सूर्य देव के प्रकाश से और इन्द्र के इन्द्रिय शक्ति से, राष्ट्र को बलशाली बनाने के लिए, समृद्धिशाली बनाने के लिए, यशस्वी बनाने के लिए और खाद्य पदार्थों का भरपूर उत्पादन करने के लिए मैं तेरा अभिषेक करता हूँ।[18]

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि राजन् तुझे सोम नामक देव के समान शक्तिशाली बनाने के लिए, अग्नि देव के समान तेजस्वी बनाने के लिए, सूर्य के समान वर्चस्वी बनाने के लिए, इन्द्र के समान शक्तिशाली बनाने के लिए, बहुत से क्षत्रिय राजाओं को भी राजा बनाने के लिए शत्रुओं को बाण आदि आयुधों से मारने के लिए मैं तेरा अभिषेक करता हूँ।[19]

अभिषेक के समय राजा द्वारा ली जाने वाली शपथ की भाषा निश्चित कर दी गई थी। अभिषेक कराने वाले पुरोहित को यह निर्देश था कि वह इस निश्चित शपथ से ही

16 इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इन्द्राय त्वादित्यवत इन्द्राय त्वाभि मातिघ्ने श्येनाय त्वा सोमभृतेग्नये त्वा रायस्पोषेसे। मा0 शुक्ल यजु0 सं0 6.32

17 शत0 ब्रा0 5.3.4.3-मा0 सं0 शु0 यजु0 10.18 इमं देवा असपत्नं सुवध्यम् क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते ज्ञानराज्याय इन्द्रस्येन्द्रियाय इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम् अस्यै विश: एष वोऽभी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।

18 देवस्य त्वा सवितु: प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूषणो हस्ताभ्यामग्नेस्तेजसा। सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेणाभिषिञ्चामि बलाय श्रियै यशसेऽन्नाधाय। ऐत0 ब्रा0 37.3

19 सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामि" इति वीर्येणैतदाह। "अग्नेर्भ्राजसा" इति वीर्येणैवैतदाह। "सूर्यस्य वर्चसा" इति वीर्येणैवैतदाह। इन्द्रस्येन्दियेण इति वीर्येणैवैतदाह। "अतिदिधन्पाहि" "(वा0 सं. 10.17) इति। इषवो वै दिधव:। इषुवधमेवैनमेतद्-तिनयति। तस्मादाह-अति दिधून्पाहीति। शत. ब्रा. 5.3.4.2.

राज्य अभिषेक के समय राजा को प्रतिज्ञा कराए।[20] प्रस्तावित राजा के लिए यह आवश्यक था कि वह सिंहासन पर आरूढ़ होते समय उपस्थित जन समूह के समक्ष इस शपथ को उच्चारित करे। इस शपथ की भाषा और इसका हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित है। जिसका वह श्रद्धापूर्वक उच्चारण करता था।

"यां च रात्रीमजायेऽहं, यां च प्रेतास्मि,
तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः
प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति।[२१]"

अर्थात् "जिस रात्रि (समय) मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि (समय) मेरा निधन होगा इस समय में, मेरे द्वारा जो लोकोपकारी उत्तम कार्य किये गये हैं वे सब, मेरे सब पुण्य, मेरी आयु, मेरी सन्तान आदि सब नष्ट हो जायें, यदि तेरा द्रोह करूँ।"

इस शपथ ग्रहण करने का भाव यह था कि शपथ में बँधा हुआ राजा निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी होकर शासन का संचालन नहीं कर सकेगा। उपर्युक्त अनुबन्ध में बँधा हुआ राजा अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह विधि के अनुसार करता हुआ अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहेगा। यदि वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके स्वेच्छाचारी होकर अनुबन्ध (शपथ) को भंग करेगा तो उसको पदच्युत करने में कोई वैधानिक बाधा उपस्थित नहीं होगी।[22] ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त हैं, जब राजाओं को राजसत्ता से हटा दिया गया और उनका वध कर दिया गया।[23]

राजा के कर्त्तव्यों में विधि के पालन के साथ-साथ विधि के रक्षक पुरोहित को भी सब प्रकार से सुरक्षा एवं सम्मान देना होता था। जैसे कि इस शोधलेख में आगे प्रतिपादित किया गया है, पुरोहित विधि का रक्षक और व्याख्याता होता था। राजा को स्वतन्त्र रूप से विधि का निर्माण करने का अधिकार नहीं था। वह तो मात्र विधि का रक्षक होता था तथा वैधानिक कार्यों को क्रियान्वित करने से पूर्व पुरोहित से विचार विमर्श करना उसके लिए आवश्यक था।

इस प्रकार वैदिक राजा को अनुबन्ध के सिद्धान्त में पूर्ण रूप से बाँध कर सिंहासन पर बैठाया जाता था। वह समाज के लिए पूर्णरूप से उत्तरदायित्व वहन करता था। प्रजा को वह पुत्र के समान मानता था और सेना उसकी प्रिय पत्नी के समान होती थी। यदि वह

20 स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वाल्लोकान् विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत्..... तमेतेनैन्द्रणे महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चेत्.....या चं रात्रीमजायेथा.....यदि मे द्रुह्येरिति। ऐत0 ब्रा0 39.1

21 (2) ऐत0 ब्रा0 39.1

22 स एवैनमशान्ततनु..... स्वर्गाल्लोकान्नुदते क्षत्राच्च बलाच्च राष्ट्राच्च विशश्च।

23 ऐत0 ब्रा0 39.9 के अनुसार शपथ का उल्लंघन करने पर अत्याराति को राजपद से पदच्युत करके उसका वध सुष्मिण नामक राजा ने किया था।

विधि के व्याख्याता पुरोहित सेना अथवा प्रजा के विरुद्ध कोई आचरण करता था तो उसे राजपद, सेना, राष्ट्र और प्रजा सबसे तिरस्कृत कर दिया जाता था।[24]

इस प्रकार वैदिक अनुबन्ध सिद्धान्त में उन सभी तत्त्वों का समावेश है जो राज्य के लिए अपेक्षित हैं। राजा को अपने कर्त्तव्यों के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी ठहराया गया है। प्रजा के हित के लिए राजा किन-किन उत्तरदायित्वों को वहन करेगा। इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है और किन परिस्थितियों में राजा को पदच्युत किया जाएगा, इसका भी निर्धारण कर दिया गया है।

डॉ0 घोषाल के अनुसार[25]-'पाश्चात्य विचारक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दार्शनिक सिद्धान्त के स्तर को अधिक नहीं उठा सके थे। उन्होंने अनुबन्ध की शर्तों की व्याख्या इस प्रकार तो की है कि जिससे वे राजनीतिक संस्था के मूल तक पहुँच जाते हैं तथा प्रभुसत्ता के स्वरूप को स्पष्टरूप से परिभाषित करते हैं। इनकी अपेक्षा वैदिक काल का अनुबन्ध सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि से अधिक परिपक्व और व्यावहारिक है, क्योंकि वह प्रजा के प्रति राजा के उत्तरदायित्व की स्पष्ट व्याख्या करता है।'

पाश्चात्य विचारकों ने राज्य उत्पत्ति के जिस सिद्धान्त की व्याख्या की है वह दार्शनिक धरातल पर सही होते हुए भी पूर्ण नहीं है। इस दृष्टि से वैदिक अनुबन्ध का सिद्धान्त अधिक विकसित और स्पष्ट है, जिसमें राजा और प्रजा के कर्त्तव्यों का विवेचन सम्यक् रूप से किया गया है। कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य को विना देखे ही यह कहा कि अनुबन्ध का सिद्धान्त अपूर्ण है। इसमें राजा और प्रजा के अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में यह सम्भव भी नहीं था। उपर्युक्त विवेचन से इनके मत का निराकरण हो जाता है।[26]

दैवी सिद्धान्तः

इस सिद्धान्त के अनुसार राजा में देवों के अंश होते हैं, इसी कारण वह दिव्य होता है। जिसके कारण वह शासन चलाने में समर्थ हो जाता है। साधारण व्यक्ति राजा नहीं हो सकता। इस विषय का विवेचन वैदिक संहिताओं में हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसकी विस्तृत व्याख्या मिलती है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि अराजक स्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए ब्रह्मा ने सर्वप्रथम निम्नलिखित आठ देवों को राजा बनाया-इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र,

24 ऐत0 ब्रा0 35.2 में उल्लेख है कि राजा ने कुछ ऐसे अत्याचार और हत्यायें की, जो शपथ व राजनियमों के विपरीत थी अतः उसको राजपद से हटा दिया गया और उसके कुछ सामाजिक अधिकार भी छीन लिए।

25 त एवैनमशान्ततनवोऽनभिहुता अनभिप्रीताः स्वर्गाल्लोकान्नुदन्ते, क्षत्राच्च बलाच्च राष्ट्राच्च विशश्च। ऐत0 ब्रा0 40.1

26 (1) यू0एन0 घोषालः ए हिस्ट्री आफ पोलीटिकल आइडियाज पृ0 539 (ठ) ए0एस0 अल्तेकर-प्राचीन भारतीय शासन पद्धति तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ0 22.

पर्जन्य, यम, मृत्यु ईशान। इनको राजा बनाकर ब्रह्मा ने कहा-"इन राजाओं से उत्कृष्ट समाज में और कोई नहीं है।" इसके बाद समाज में वर्ग बनाये गये जिनको ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के नाम से जाना गया। देवों के अनुकरण से ही मनुष्यों के राजा बनाये गये। समाज का संचालन करने के लिए विधि का निर्माण किया गया और राजा को विधि के अधीन रखा गया।[27]

प्रस्तुत प्रसंग में राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का विवेचन बहुत ही स्पष्टरूप में हुआ है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि-'देव राजा हैं, उनके शासन के लिए साधारण जनता की कल्पना करनी चाहिए। देवों के समान ही मनुष्यों की भी साधारण जनता हो जाएगी, इस प्रकार जनता और राजा के मिलने पर यज्ञ तैयार हो जाता है।'[28]

राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक आख्यायिका के माध्यम से निम्न लिखित प्रकार प्रतिपादित किया है-प्रजापति ने इन्द्र को देवों का राजा बनाने की इच्छा प्रकट की। राजपद पाने का अधिकारी होने के लिए इन्द्र ने प्रजापति से उसके तेज की प्राप्ति हेतु याचना की। इस तेज के प्राप्त कर लेने के उपरान्त इन्द्र देवराज बन गया। यद्यपि वह देवों में छोटा था।[29] प्रजापति के तेज की प्राप्ति के पूर्व वह साधारण देव था। इन्द्र और अन्य देवों में कोई विशेष अन्तर न था। परन्तु प्रजापति के तेज को धारण कर लेने से इन्द्र देवों का राजा बन गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजपद प्राप्ति के लिए वही व्यक्ति उचित अधिकारी है, जिसमें प्रजापति का तेज विद्यमान हो। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। राज्याभिषेक के प्रसङ्ग में उल्लेख है कि राज्याभिषेक से पूर्व प्रस्तावित राजा और अन्य लोगों में विशेष अन्तर नहीं होता। परन्तु राज्याभिषेक के बाद राजा, यजमान और "विष्णु" इन दोनों का रूप एक साथ धारण कर लेता है।[30]

ब्राह्मण ग्रन्थों में दैवी सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ-साथ इसके दार्शनिक पक्ष पर भी विचार किया गया है; जिसमें मनुष्य के स्वभाव का अध्ययन करने के बाद यह निश्चित किया गया कि मनुष्य का स्वभाव अनृतगामी है[31] अर्थात् वह अपराध करने की ओर चलता है। इसलिए उसे अनृत करके ऋत् की ओर प्रवृत्त करने में उसका कल्याण समझा गया। मानव सृष्टि से पूर्व देवों की सृष्टि मानकर उनके स्वभाव का अध्ययन किया गया और देवों को ऋत् का अनुसरण करने वाले बताया गया। नैतिक नियमों को ऋत् बताया गया है।

27 शत० ब्रा० 14.1.2.23

28 देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्पमाना अनुमनुष्यविश कल्पन्त इति सर्वाविशः कल्पन्ते कल्पते यज्ञोऽपि-ऐत० ब्रा० 2.3

29 तैप्ति० ब्रा० 2.2.10.1-2 (4) शत० 1.1.1.4-सत्यमेवदेवानृतंमनुष्याः

30 उभयं वा एषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च शत० ब्रा० 3.2.5.17

31 शत० -1.1.1.4-तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति

जिससे मनुष्य समाज का कल्याण होता है।

इस प्रकार यह सिद्धान्त निर्धारित किया गया कि मनुष्यों को भी देवों के समान ऋत्गामी बनाया जाए।[32] मनुष्य भी देवों के स्वभाव को धारण करें। इसके लिए उन्होंने यह उपाय सोचा कि सब मनुष्यों का एक साथ परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसलिए मनुष्यों में से एक शक्तिशाली व्यक्ति को ऋत् का अनुगामी बनाकर मनुष्यों का नेता बनाया जाए, जो उनको ऋत् के मार्ग पर चला सके। यह व्यक्ति शक्तिशाली होने के साथ-साथ दिव्य शक्तियों से युक्त होना चाहिए।

राजा मनुष्य समाज को नैतिक पतन से रोककर सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयास करता है। वह स्वयं चरित्रवान् होगा, उदात्त चरित्र का होगा, तभी मानव समाज के कल्याणकारी कार्य करने में समर्थ हो पाएगा। इसलिए कहा जाता है-**"यथा राजा तथा प्रजा"**

इस प्रकार दैवी सिद्धान्त के द्वारा राजा में दिव्य गुणों का आधान करके उसे देवत्व कोटि में होना चाहिए, यही भाव निहित है।

दैवी सिद्धान्त का स्वरूप और महत्त्वः

वैदिक साहित्य में वर्णित दैवी सिद्धान्त इसी भावना से ओतप्रोत है। इसी कारण यह सिद्धान्त अपने आप में अनुपम है। जिस समय प्रस्तावित राजा का राज्य अभिषेक किया जाता है, उसी समय विभिन्न देवताओं को यज्ञ में आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। इसका भाव यह है कि राजा में उन देवताओं के अंश को प्राप्त करने का उपक्रम प्रारम्भ होता है। इसलिए जब तक विशेष विधियों के द्वारा राज्याभिषेक नहीं हो जाता तब तक राजा नहीं माना जाता।

वेदकालीन समाज में यह मान्यता थी कि यज्ञ के द्वारा देव प्रसन्न होते हैं वह प्रजापति का रूप हैं और यज्ञकर्त्ता यज्ञ के द्वारा देवत्व को प्राप्त हो जाता है।[33] इसी प्रकार प्रस्तावित राजा राज्याभिषेक के बाद देवत्व को प्राप्त करके असाधारण हो जाता है।

इसी प्रसङ्ग में कहा गया है कि प्रस्तावित राजा को-सविता देव आदेश देने के लिए 'अग्नि' देव गार्हपत्य की रक्षा के लिए, 'बृहस्पति' वाणी के लिए, 'इन्द्र' ज्येष्ठता के लिए, रुद्र पशुओं की रक्षा के लिए, मित्र सत्य की रक्षा के लिए, वरुण धर्मपति की रक्षा के लिए, अपने-अपने दिव्य गुण प्रदान करें।[34] इसी प्रसंग में कहा गया है कि ये देवता अपने

32 कौष0 ब्रा0 25.11.10.1, ऐत0 ब्रा0 7.7 आदि

33 शत0 ब्रा0 5.2.7.2-10 एवं शत0 ब्रा0 5.2.7.11-सविता त्वा सवानां सुवताम् अग्निर्गृहपतीनां सोमो वनस्पतीनां बृहस्पतिर्वाचे इन्द्रो ज्येष्ठाय, रुद्रः पशुभ्यः मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्। तैत्रि0 ब्रा0 1.7.4 में देवों के क्रम में अन्तर है सविता सबसे अन्त में है रुद्र का उल्लेख इन्द्र से पहले हैं।

34 (क) एता ह वै देवा सवस्येशते..........। शत0 ब्रा0 5.2.7.13 (ख) एनं सत्यसवं करोति, इन्द्रमेवैनं

दिव्य गुणों के अंश से इस अभिषेक करने वाले राजा को युक्त करते हैं।[35]

इसी प्रकार साधारण गुणों से युक्त राजा उपर्युक्त देवों के अंश से देवत्व को प्राप्त होकर महिमाशाली हो जाता है। अब वह भी दिव्य गुणों से विशिष्ट देवतुल्य हो गया। इन दिव्य गुणों को धारण करना सरल नहीं था। इसके लिए त्याग और तप द्वारा आत्म साधना के मार्ग का अवलम्बन आवश्यक था। इस दृष्टि से वैदिक युग के राजा का देवत्व उसके आचरण पर निर्भर करता था। राजा के आचरण की उत्कृष्टता उसके देवत्व से संबद्ध थी। जितना पवित्र राजा का आचरण होगा, उतने ही देवत्व का विकास राजा में होगा। इसी कारण वैदिक साहित्य में विविध प्रकार के राजाओं का उल्लेख है।[36] वेद व्याख्याकारों-महीधर, उव्वट, सायण आदि का मत है कि ये राजा विविध प्रकार के यज्ञ करने के उपरान्त विविध उपाधियाँ धारण करते थे।[37] राज्याभिषेक के सिद्धान्त भी इसी की पुष्टि करते हैं। राजसूय यज्ञ करने वाला राजा और वाजपेय यज्ञ करने वाला सम्राट् कहलाता था।[38] इन यज्ञों का अनुष्ठान करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी नहीं था। जिस में विशेष गुणों का समावेश होता था वहीं इन यज्ञों का अनुष्ठान कर सकता था। इन्द्र का अभिषेक करते समय स्पष्ट रूप से उन गुणों का उल्लेख किया गया है जो अभिषेक के लिए आवश्यक थे।[39] इससे यह भी ध्वनित होता है कि तत्कालीन राज्य सीमा-विस्तार की दृष्टि से ही छोटे या बड़े नहीं माने जाते थे, अपितु राज्य में निवास करने वाली जनता एवं उनके शासकों के दिव्य आचरण की मात्रा के आधार पर छोटे बड़े माने जाते थे। ब्राह्मणग्रन्थों और वैदिक संहिताओं में राष्ट्राध्यक्षों को उनके दिव्य गुणों के कारण ही इन्द्र, वरुण, यम, सोम, मृत्यु, ईशान आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था।

भारतीय इतिहास में ऐसे असंख्य उदाहरण विद्यमान हैं, जिनसे यह विदित होता है कि बहुत से व्यक्तियों ने इन्द्र पद की प्राप्ति के लिए कठिन साधनायें कीं, यज्ञ किये, परन्तु फिर भी उनको इन्द्र का पद प्राप्त नहीं हुआ। इसका कारण उनका निम्न स्तर का आचरण ही था, जो तप करते हुए विविध प्रकार के प्रलोभनों से अपने आपको रोक नहीं पाते थे और इन्द्र के पद से वञ्चित हो जाते थे। समय के परिवर्तन के साथ-साथ विविध प्रकार की राजा की उपाधियों में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए और बाद में ये उपाधियाँ तत्तत् देशों के राज्य व राजा की संज्ञा में रूढ हो गयी। परन्तु वैदिक संहिताओं में उपलब्ध प्रमाणों से यह सुस्पष्ट है कि प्रारम्भ में राजपद विभिन्न श्रेणी के होते थे, जिनका वर्गीकरण उनके लिए

सत्यौजसं करोति ......एनं सत्य धर्माणं करोति...। तैत्ति0 ब्रा0 1.7.10.2-4

35 कौ0 ब्रा0 9.5-6, ऐत0 37.2

36 (मध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद 8.37 द्र0 उव्वट व महिधर भाष्य काण्व संहिता शुक्ल यजुर्वेद-सा0 भा0।

37 (क)राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। शत0 ब्रा0 5.1.1.13, (ख) स राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामाधत्तः ....। गोपथ ब्रा0 5.8, (ग)स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्तः । वही....

38 ते देवा अब्रुबन् स प्रजातिका -अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः इममेव अभिषिञ्चामहा इति, तद्वै तदिन्द्रमेव। ऐत0 ब्रा0 38.1

निर्धारित दिव्य गुणों के समावेश के आधार पर किया जाता था।

वैदिक दैवी सिद्धान्तों की विशेषता:

वैदिक दैवी सिद्धान्तों की दो विशेषताएँ हैं। राजा की दिव्य उत्पत्ति और उसका दिव्य आचरण। ब्राह्मण ग्रन्थों के उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि राजा की उत्पत्ति यज्ञ से दीक्षित होकर राज्याभिषेक द्वारा होती है, जो सामान्य राजाओं की अपेक्षा भिन्न है। पुरोहित यज्ञ की वेदी पर आसीन राजा में विभिन्न देवों के गुणों के उन-उन अंशों को धारण कराता है, जो राज संचालन के लिए अत्यावश्यक हैं। इसके बाद राजा के आचरण में विशेष प्रकार के दिव्य आचरण का समावेश होता है। यह दिव्य आचरण विभिन्न देवों के गुणों के अंशों से ही हुआ है। परन्तु वह उन सबसे विशिष्ट है। किसी भी एक देव में वैसा आचरण नहीं है। इस प्रकार राजा की दिव्य उत्पत्ति के समान उसका आचरण भी दिव्य गुण मिलने से दिव्य हो जाता है। इस आचरण के कारण ही वह अलौकिक और असाधारण होता है।

डॉ. बलवीर आचार्य,
संस्कृत विभाग महर्षि दयानन्द
विश्वविद्यालय रोहतक (हरियाणा)

ऋग्वेद की अद् धातु का अर्थविचार

आचार्य पाणिनि के धातुपाठ में 'अद्' धातु भक्षण करना अर्थ में पठित है, जो परस्मैपदी है।[1] 'संस्कृत धातुकोष:' में 'अद्' धातु के खाना, भक्षण करना तथा नष्ट होना ये अर्थ दर्शाये हैं।[2] श्री चन्नवीर कवि ने अद् धातु का अर्थ खादति दिखाकर इससे अदन्, अद:, अदक: (खाने वाला), अत्ता (श्वश्रु), अत्तिका (भाभी), आदम् (अधिक), अत्ति: (अञ्जीर), अन्तम् (भक्त, आहार), आदि: (प्रभृति), अत्तम्, अत्ति:, अत्तव्यम्, अदनम्, अदनीयम्, अदु, आदु, अद्यम्, आद्यम्, अद्, आद्, अदि (खाद्य पदार्थ), अन्नादम् (अन्नविक्रय), अद्य (इस दिन)-इन शब्दों की उत्पत्ति दर्शायी है।[3] कतिपय शाब्दिकों का कथन है कि उपर्युक्त 'अत्ता' शब्द, जो श्वश्रूवाचक है, प्राकृतभाषा का शब्द है। जैसे कि प्रयोग प्राप्त है-''अत्ता एत्थ निमज्जइ.......'। यह पद्य साहित्य दर्पण के प्रथम परिच्छेद में प्राप्त होता है। टीकाकारों ने 'श्वश्रूरन्त्र निमज्जति' यह उसकी संस्कृतच्छाया बनायी है। वस्तुत: श्वश्रूवाचक 'अत्ता' शब्द मूलरूप से संस्कृत भाषा का ही है-ऐसा श्री चन्नवीरकविकृत काशकृत्स्नधातुपाठ की टीका से स्पष्ट होता है। शाब्दिकों से सम्मत देशिक शब्द भी प्राकृत अपभ्रंशादि भाषाओं में बहुत सारे संस्कृत भाषा के शुद्ध शब्द प्राप्त होते हैं। उनका मूल तो देशविशेष में प्रयोग प्राप्त होने पर ज्ञात होता है। बहुत से संस्कृत शब्दों का देशविशेष में ही प्रयोग होता है। जैसे कि आचार्य यास्क ने कहा है-

''शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति।[4]''

इसी विचार धारा को भगवान् पतञ्जलि ने विस्तार देते हुए कहा है-

एतस्मिंश्चातिमहति प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मति: सुराष्ट्रेषु, रंहति प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्या: प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु इति।[5]

इस प्रकार 'अत्ता' शब्द श्वश्रूवाची ही है, जो मूलरूप से संस्कृतभाषा का है। 'अद्' धातु को उपलब्ध धातुपाठों में अदादिगण की प्रथम धातु स्वीकार किया गया है और इसी धातु के नाम से इस गण का नाम भी अदादिगण पड़ा है। साथ ही चान्द्र, काशकृत्स्न, सारस्वत, क्षीरतरङ्गिणि, धातुप्रदीप आदि धातुकोषों में इसे भक्षणार्थ में ही पढ़ा गया है।

ऋग्वेद में 'अद्' धातु के <u>अ</u>त्ति, अत्ति, अत्त:, अदन्ति, <u>अ</u>त्सि, अद्धि, अत्तु, अदन्तु,

1 अदादि0 ।

2 रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ सोनीपत से 1996 में प्रकाशित

3 काशकृत्स्न धातुव्याख्यानम् अदादि0 ।

4 निरुक्त 2/2.

5 पस्पशाह्निके 1/1 आ0 ।

अद्धि, अद्धि, अत्त > त्ता, अत्तन, आदत्, अद्युः- ये चौदह रूप प्राप्त होते हैं। ये स्वरभेद से चौदह हैं वस्तुतः ये बारह रूप ही हैं। ऋग्वेद में यह अद् धातु तैंतीस स्थलों पर प्रयुक्त हुई है। भाष्यकारों में स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, उद्गीथ, नारायण, आत्मानन्द तीर्थ, सायण एवं स्वामी दयानन्द ने 'अद्' धातु भक्षणार्थ में ही व्याख्यात की है। नीचे हम उन समस्त मन्त्र अथवा मन्त्रांशों को प्रस्तुत कर रहे हैं, जहाँ 'अद्' धातु प्रयुक्त हुई है-

देवता मन्त्र-

अग्निः इभ्यान्न राजा वनान्यत्ति।। ऋ0 1.65.4

अग्निः त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्।। ऋ0 1.94.3

अग्निः अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति।। ऋ0 1.143.5

विश्वेदेवाः तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति।। ऋ0 1.164.20

विश्वेदेवाः अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीम्।। ऋ0 1.164.40

अग्निः त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्।। ऋ0 2.1.13

अग्निः आसा देवा हविरदन्त्याहुतम्।। ऋ0 2.1.14

इन्द्रः असिन्वन्द्रंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनम्।। ऋ0 2.13.4

अपां नपातः स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति।। ऋ0 2. 35.7

इन्द्रः दिवे दिवे सदृशीरद्धि धानाः।। ऋ0 3.35.3

इन्द्रः अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः।। ऋ0 3.52.7

अग्निः नितिक्ति यो वारणमन्नमत्ति।। ऋ0 6.4.5

अग्निः ज्योक् चिदन्ति गर्भो यदच्युतम्।। ऋ0

अग्निः यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति।। ऋ0 8.102.21

पितृलोकाः उशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु।। ऋ0 10.15.8

पितृलोकाः अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिषि।। ऋ0 10.15.11

पितृलोकाः अद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि।। ऋ0 10.15.12

इन्द्रः पत्तो जगार प्रत्यञ्चमत्ति।। ऋ0 10.27.13

इन्द्रः तस्थौ माता विषितो अत्ति गर्भः।। ऋ0 10.27.14

इन्द्रः पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषाम्।। ऋ0 10.28.3

इन्द्रः सिम उक्ष्णोऽवसृष्टाँ अदन्ति।। ऋ010.28.11

बृहस्पतिः दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमादत।। ऋ0 10.68.6

अग्निः असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः।। ऋ0 10.79.1

असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि।। ऋ0 10.79.2
अग्नि: जायमानो मातरा गर्भो अत्ति।। ऋ0 10.79.4
इन्द्र: उताहमद्मि।। ऋ0 10.86.14
रक्षोघ्न अग्नि: आमाद: क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनी:।। ऋ0 10.87.7
पुरुरवा: अधैनं वृका रभसासो अद्यु:।। ऋ0 10.95.14
विश्वेदेवा: ऊर्जं गावो यवसे पीवो अत्तन।। ऋ0 10.100.10
आप्री: स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवा:।। ऋ0 10.110.11
इन्द्र: अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य।। ऋ0 10.116.7
परमात्मा:मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति।। ऋ0 10.125.4
अरण्यानि: उत गावइवादन्ति।। ऋ0 10.146.3

उपर्युक्त मन्त्रों में 'अद्' धातु को यद्यपि भाष्यकारों ने 'भक्षण करना' अर्थ में ही व्याख्यात किया है, किन्तु जहाँ मन्त्र का देवता 'अग्नि:' है, वहाँ धातु का तात्पर्यार्थ जलाना, भस्म करना, नष्ट करना, समाप्त कर देना, विध्वंस करना, भस्मी भूत कर देना, दहना, दग्ध करना आदि भी लिये गये हैं। जैसे प्रथम मन्त्र को ही लें, इसका देवता अग्नि है। अर्थ है-जैसे राजा शत्रु का विनाश करता है वैसे ही अग्नि वन का भक्षण करता है। आचार्य सायण कहते हैं-"अग्नि: वनानि महान्त्यरण्यानि अत्ति भक्षयति। दहतीत्यर्थ:"।। यह तात्पर्यार्थ होने के उपरान्त भी यह नहीं कहा जा सकता है कि 'अद्' धातु का अर्थ 'दहन करना' है। क्योंकि 'दहन करना' तो तात्पर्यार्थ ही है। अर्थ तो 'भक्षण करना' है। अरण्यों को 'भस्म करना' अग्नि का कार्य है अर्थ तो भक्षण करना ही है। इसीप्रकार जिस मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवा:' है और वहाँ अर्थ है-"गौ तृण को चरो" वहाँ 'चरना' अर्थ भक्षण को ही सूचित कर रहा है। मन्त्र का देवता यदि इन्द्र: है और वहाँ इन्द्र शब्द से आदित्य की स्तुति की जा रही है तब यदि मन्त्र कहता है कि आदित्य जल को निगलता है, अथवा ग्रहण करता है, भाष्यकार यदि तब इसका तात्पर्यार्थ 'स्वमण्डल' में अवस्थापित करता हैं करते हैं तो अर्थ भक्षण करना ही है। अर्थात् "आदित्य जल का भक्षण करता है।" इसी प्रकार इन्द्र: सूर्य दुग्ध का पान करते हैं या पापों का नाश करते हैं" तात्पर्यार्थ 'भक्षण करना' ही सूचित है। 'इन्द्र भोगों को भोगे' इन्द्र सोम का पान करे, उसने बल नामक का भक्षण किया या मारा-ये सब तात्पर्यार्थ हैं, किन्तु अद् धातु का मूलार्थ भक्षण करना ही दिखाता है। देवता और कर्म को ध्यान में रखते हुए यद्यपि 'अद्' धातु प्रयोग रूप में जलाना, भस्म करना, नष्ट करना, समाप्त करना, विध्वंस करना, भस्मीभूत करना, दहना, दग्ध करना, जला देना, विनाश करना, चरना, निगलना, ग्रहण करना, स्वीकार करना, अवस्थापित कराना, पान करना, नाश करना, भोगना, मारना इन अर्थों को तात्पर्यार्थ में प्रयोग कर भाष्यकारों ने वाक्यरचना गठित की है, किन्तु उनका अभिप्राय 'भक्षण करना' अर्थ से ही है।। एवं अद् धातु ऋग्वेद में 'भक्षण करना' अर्थ में प्रयुक्त है।।

डॉ0 सत्यदेव निगमालङ्कार

व्याकरणे श्री भट्टोजिदीक्षितस्तत्परिचयश्च

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिः विश्वस्यास्य निबन्धती यथेन्नः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते इति भर्तृहरि वाक्यानुसारेण शब्दमूलक एव सर्व व्यवहारः संसारे निष्पद्यते।

पश्वादीनामपि व्यवहाराः शब्दपूर्वका एव भवेयुः पुराणादिषु पश्वादिभाषाणां श्रवणात्। विशेषतस्तु मानवानां व्यवहाराः शब्दं विना कथमपि न सम्पद्येरन्निति सार्वजनीनमेव मानवानां च व्यवहारा द्विविधा भवन्ति। शारीरिकाः पारलौकिकाश्च। द्वयोऽपि व्यवहारा पारम्परिका एव प्रशस्ता भवन्ति। पूर्वजानां परम्परातो ये व्यवहारा शरीर संबन्धिनोऽपि समागतास्ते एव मानवैः यदि पालनीया भवन्ति। पारलौकिकाः परलोकोपयोगिनो ये व्यवहाराः धर्मरूपास्ते वेदविहिताः सन्ति। एवं च द्विविधेष्वपि व्यवहारेषु शोभनपदवीलाभाय शब्दज्ञानमेवातिशेते शब्दज्ञानेनैव शारीरिकव्यवहाराय भौतिकानि शास्त्राणि परिज्ञातानि भवन्ति। पारलौकिके धर्मानुष्ठानाद्यात्मके व्यवहारेऽपि वेदानां सम्यग्ज्ञानाय शब्द ज्ञानमेवावश्यकं भवति।

एतदर्थमेव शब्दानुशासनात्मकं व्याकरणं प्रणिनाय भगवान् पाणिनिः। शब्दानुशासनप्रयोजननिरुपणो च भगवान् पतञ्जलिरप्याह ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। षडङ्गेषु च व्याकरणं मुखस्थानीयमिति तदेव प्रधानम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति। व्याकरणेनैव परिष्कृतशब्दाः प्रयोक्तुं शक्यन्ते व्याकरणेन परिष्कृता शब्दा एव शिष्टैः प्रयुज्यन्ते। व्याकरणसंस्कारहीनाः शब्दाः म्लेच्छशब्दाः कथ्यन्ते म्लेच्छशब्दाः शिष्टैर्न प्रयोज्याः। न म्लेच्छितवैनापभाषितवै इति श्रुतेः। एवं व्याकरणाध्ययनं परमावश्यकम्। तत्राधुना पाणिनीयं व्याकरणमेव शिष्टैः परिगृहीतमस्ति। व्याकरणे च महर्षिणा पाणिनीना सूत्राणामष्टाध्यायी निर्मिताऽस्ति।

तदङ्गतया ये धातुपाठो गणपाठो लिङ्गानुशासनं च प्रणीतम्। एतेषां सम्यग् कारकानामपि व्याकरणज्ञानायात्यन्तमुपयुज्यते। तत्र पाणिनिसूत्रेषु महर्षेः पतञ्जलेर्महाभाष्यं तत्र सर्वकारकोपजीव्यत्वेनङ्गीकृतमस्ति। तदेवाश्रित्य पाणिनिसूत्रेषु बहूनि कारकाना- न्यद्यत्वे समुपलभ्यन्ते। तत्र श्रीभट्टोजिदीक्षितस्य व्याख्यानं साम्प्रतं पाणिनिशास्त्रस्य सम्यग् बोधाय विदुषां विशेषतः समादरणीयतां भजति।

श्री भट्टोजिदीक्षितस्य पाणिनिव्याकरणे निबन्धद्वयं प्रसिद्धं वरीवर्ति तत्रैको निबन्धः "वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीनामधेयः सम्प्रति वैयाकरणैरध्यापकैः छात्रैश्च महता निर्बन्धेन गृह्यमाणो विराजते प्रायोद्यत्वे ये खलु व्याकरणशास्त्रस्य मर्मज्ञा विद्वांसो भारते गण्यन्ते ते सर्वे वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीमेव सम्यगधीत्य तत्र सविशेषपाटवेन गृहीत्वैव संमान्यतामधिगताः सन्ति। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी समधीता सती व्याकरणे सर्वाङ्गीणं ज्ञानं जनयति। सा यदि श्रमेणाधीत्य सम्यगधीगता स्यात्तर्हि वैयाकरणसिद्धान्ताः निःशेषेण परिज्ञाता भवन्ति। अपरेषु च सर्वेषु व्याकरणव्याख्यानभूतेषु ग्रन्थेष्वपि साधिकारं क्रीडितुं ते प्रभवन्ति। एकस्मिन्नपि एव कृतः प्रयत्नः सर्वत्र फलवान् भवितुं शक्नोति उक्तं च केनापि।

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः। कौमुदी यद्य कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः। साम्प्रतमेतादृशी खलु वैयाकरणेषु स्थितिः परिदृश्यते प्रायः यद् वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीं ये नाधीतवन्तस्ते व्याकरणशास्त्रे सूत्र परिभाषा एव मन्यन्ते एवं च व्याकरण शास्त्रे श्री भट्टोजिदीक्षितस्य नाम स्वर्णाक्षरै लेखनीयतामर्हा।

भट्टोजिदीक्षितस्यकृतय

अस्य सहोदरोऽपि रङ्गोजिमहाभिधोऽद्वैतशास्त्रनिष्णातो वाग्देवतावताररूप एवासीत्। तस्यैव पुत्रः श्री कौण्डभट्टो वैयाकरणभूषणसारस्य कर्ता सीदितिकौण्डभट्टेनैव वैयाकरणभूषणसारस्य मङ्गलश्लोके नाम्यध्याये पाणिन्यादि मुनीन् प्रणम्य पितरं रङ्गोजिभिधं, द्वैतध्वान्तनिवारणैकफलिकां पुम्भाववाग्देवतामिति। भट्टोजिदीक्षित भट्टं पितृव्यं नौमि सिद्धये, इत्यपि तेनोक्तम्। एवं च विद्यार्णवावगाहनोद्भूतयशः समुज्ज्वलकुलकमल- भास्करस्य श्रीभट्टोजिदीक्षितस्यानवद्यवैदुष्यं निर्विवादमेव वरीवर्ति। पदवाक्यप्रमाण- पारावारीणामेभिः यद्यपि विभिन्नेषु शास्त्रेष्वनेके शास्त्रसारसंग्रहभूता निबन्धाः प्रणीतास्तथापि पाणिनिव्याकरण शास्त्रमाश्रित्यैषां ये निबन्धा सन्ति। ते लोके निखिलव्यवहारपथिकमूर्धन्यशब्दज्ञानोपबृहंणत्वेन परमादरणीयतया विजयतेतराम्।

व्याकरणे शास्त्रेऽप्यनेके निबन्धा एभिः प्रणीताः सन्ति। तत्र पाणिनीयमष्टाध्यायी-माश्रित्य महाभाष्यमनुसरन्तः शब्दकौस्तुभनाम्ना व्याख्यानात्मकं निबन्धरत्नं प्रणीतवन्तः, तेन खल्वेतेषां व्याकरणशास्त्रे प्रतिभाप्रागल्भ्यमतिशयेन चकास्तितराम् शब्दार्णवस्य मन्थनाज्ञातः कौस्तुभोऽयं निबन्धः कौस्तुभाभामिव शब्दशास्त्रस्य महतीं शोभां जनयति। अस्य निबन्धस्य वैशिष्ट्यमिदमस्ति यस्मिन् विषये विवेचनमारभ्यते तत्र संबन्धिनो यावन्तो विषयाः विचार्यत्वेन समयेक्षिता भवेयुस्तावन्तः सर्वे विषया एकेनैव संकलय्य विविच्यमाना भवन्ति। शब्दकौस्तुभारम्भे स्वयमेवाह भट्टोजिदीक्षितः परिभाव्य बहून् ग्रन्थान् योऽर्थः क्लेशेन लभ्यते। तमशेषमनायासादितो गृह्णीतसज्जनाः इति विषयविचारेषु प्रसङ्गादपि यद्यन्यो कश्चनायाति तं प्रासङ्गिकमपि विषयं सामस्त्येन तत्र विचारयित्वा मुख्यं विषयं विवेचयति। प्रथमाह्निकारम्भ एव अथ शब्दार्थविचारप्रसङ्गे निपातनां द्योतकत्व-वाचकत्वविचारोऽपि शास्त्रान्तरसमीक्षापूर्वकं सम्यङ्निर्णीतः तत्रान्तिमा पङ्क्तिरीदृशी अस्तु वा मतान्तरं निपातावाचका इति सर्वथाऽपि प्रादयो द्योतकश्चादयस्तु वाचका, इत्येवं रूपमर्थ जातीयं नैयायिकाभ्युपगतमप्रामाणिकमेवेति दिक्।

एतादृश्या शैल्या न केवलो मुख्यो विषय एव स्पष्टीभवति विषयान्तरमपि तेन सह सम्यक् परिस्फुटं भवति यथा एकमेव सर्वेऽपेक्षिता विषया परिज्ञायन्ते। तस्मिन् विषये जिज्ञासूनां सर्वविद्या जिज्ञासाऽनायासेनैव शाम्यते, दुलर्भा चेदृशी विषया बोधनशैल्यन्यत्र कुत्रापि? एतस्याः पिता लक्ष्मीधरदीक्षित आसीत्। पुत्ररत्नो भानुजीदीक्षितो बभूव। येन नरसिंहकृतायामरकोशस्य सुधानाम्नी व्याख्या व्यधायीति ज्ञायते। श्री भट्टोजि दीक्षितस्य द्वितीयोऽपि पुत्रो वीरेश्वरदीक्षित आसीदिति केचिन्मन्यन्ते। अपरे तु भानुजिदीक्षितस्यैवापरं नाम वीरेश्वर दीक्षित आसीदिति कथयन्ति। एतस्यैव भानुजिदीक्षितस्य पुत्रेण हरिदीक्षितेन श्री

भट्टोजिदीक्षितकृतप्रोढमनोरमा शब्दरत्ननामकेन व्याख्यानेनालङ्कृता।

भट्टोजिदीक्षितस्य समय एव पण्डितराजो जगन्नाथो रसगङ्गाधरस्य प्रणेता आसीत्। पण्डितराजस्तु प्रतिभावान् पण्डितमानी आसीत्। श्री भट्टोजिदीक्षितस्योत्कर्षमसहिष्णुः स प्रोढमनोरमायाः खण्डनाय मनोरमाकुचमर्दिनी नाम्ना समीक्षात्मिका टीका व्यलेखि। हरिदीक्षितेन तस्याः समीक्षायाः समाधानं सम्यग् विधाय प्रमाणैः भट्टोजिदीक्षितोक्तिः समर्थिता।

भट्टोजिदीक्षितस्य भ्रातुष्पुत्रेण निर्मितो यो वैयाकरणभूषणसारः तस्य मूलभूता कारिकाः शब्दकौस्तुभे निर्मीतानर्थानादायैव प्रवृत्ताः सन्ति तांश्च भट्टोजिदीक्षितेनैव संकलिता इत्यपि श्रूयते। तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणोह कथ्यत इत्याद्य मङ्गल कारिकया। महाभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभास्योद्धरणेनैव तत्र निर्णीतानामर्थानां सुखबोधाय कारिकासु संक्षिप्य प्रतिपादनस्यौचित्यास्पदत्वात्। एतासु कारिकासु वैयाकरणाः सर्वे मुख्याः सिद्धान्ताः व्याकरणशास्त्रस्यलङ्कारभूताः प्रतिपादिताः सन्ति तेषामेव विशदीकरण- वैयाकरणभूषणसारे कौण्डभट्टेन कृतम्।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी नामकोऽपरो निबन्धः शब्दशास्त्रीयः निरवद्य सिद्धान्तध्वान्तदूरीकरणाय चन्द्रज्योत्स्नायमानः लोकोपकारकरणायानेन महाविदुषा प्रणीतः। यः साम्प्रतं शब्दतत्त्वमधिजिगमिषूणां जनानामेव बोधनाय विजयतेतराम्। यद्येषु निबन्धोऽधुना न स्यात्तदा मन्ये यदयं लोकः पाणिनीयव्याकरणावबोधेन वञ्चित एव स्यात्। इतः पूर्वं ये व्याकरणशास्त्रीया निबन्धा काशिकादय आसन् ते खलु पाणिनीय- सूत्राण्यादाय महाभाष्यानुसारिप्रोढव्याख्यानपरा एव न तैनिबन्धैः शब्दस्वरूपबोधाय कश्चन प्रभवेत्। शब्दस्वरूपज्ञानं विना न तैर्निबन्धैः कश्चन् लाभः केनचिल्लभ्येत। अतस्ते काशिकादयो निबन्धा प्रोढपाण्डित्योत्कर्षायैव भवेयुः शब्दस्वरूपमधिगन्तुमिच्छुनां व्याकरणमधीयानानां छात्राणामुपकारायैषा वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यैव हितावहेति निश्चयप्रचं वक्तुं शक्यते। येषां संस्कृतशब्दज्ञानं मनागपि नास्ति। संस्कृतशब्दानां प्रयोगज्ञानायैव संस्कृतशिक्षितुं प्रवृत्ता भवन्ति। तेषां पुरुतो यद्यष्टाध्याय्येव प्राक् प्रस्तूयेत। अष्टाध्यायाः प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादस्थानां सूत्राणां व्याख्यानं च प्रारभ्येत, तदा स सर्वमप्रतिपित्सितमफलं च मत्वा ततः प्रति निवर्तेतैव स्वेष्टात् संस्कृतज्ञानात् च भ्रश्येत ईदृशां जिज्ञासूनां शब्दशास्त्रप्रवेशाय शब्दज्ञानोपयोगि प्रकियानामाश्रित्यैव तैः किंचिच्छब्दज्ञानं कारयेत यमधिश्रित्य शनैः शनैः क्रमेण शब्दार्णवमवगाढुं ते समर्था भवेयुः। ईदृशां भावनामादायैव प्रक्रियाग्रन्थाः (प्रक्रिया कौमुद्यादयः) प्रवृत्ता आसन्, श्री भट्टोजिदीक्षितोऽपि व्याकरणार्णवमन्थने मन्दरायमाणः पाणिनि सूत्रेषु महाभाष्यसरण्या

शब्दकौस्तुभाख्यां महावृत्तिं विधायापि तत्र शास्त्रे अविरूढमतीनां समभीप्सित न सिद्धयेदिति विचार्य प्रक्रियासरणिमाश्रित्य वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रणिनाय। वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदीमधिगतवन्तश्छात्राः तत्रैव न विश्राम्येयुरिति तेषां जिज्ञासा संवर्ध्यनाय अन्ते निरदिशद् य इत्थं लौकिक शब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्। विस्तरस्तु यथा शास्त्रं वर्णितः शब्दकौस्तुभे। शब्दकौस्तुभोऽप्येतदनन्तरं बुध्येद् इत्येव तेषां तात्पर्यमनेन श्लोके न्यासेन प्रतीयते।

डॉ0 रामप्रकाश शर्मा
रीडर, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

एकादश उपनिषदों के क्रियारूपों में वैदिक के प्रभाव का क्रमिक ह्रास

वैदिक का प्राथमिक रूप ऋग्वेद के सूक्तों में सुरक्षित है। यह रूप संहिताओं अर्थात् सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से ब्राह्मणग्रन्थ तथा आरण्यकों से होता हुआ उपनिषदों तक निरन्तर परिवर्तित होता रहा है। कुछ अंशों में इसका प्रभाव आर्ष काव्य (रामायण, महाभारत) में भी दिखाई देता है। केवल क्रियारूपों के आधार पर ही इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है।

क्रियारूपों की आधारभूत प्रकृति धातुओं के प्रयोग को देखें तो पता चलता है कि वैदिक में लगभग 150 धातु ऐसी हैं, जिनका लौकिक में प्रयोग नहीं हुआ है। लगभग 125 धातुएं ऐसी हैं जो केवल लौकिकी में ही प्रयुक्त हुई है। उनका वैदिकों में प्रयोग नहीं मिलता। वैदिक में लिङ् लकार के अर्थ में लेट् लकार का प्रयोग भी होता था, जो लौकिकी तक आते समाप्त हो गया। गण, विकरण, पद, वाच्य तथा उपसर्ग के प्रयोग की दृष्टि से वैदिक तथा लोकिकी में पर्याप्त अन्तर है। कृदन्त क्रिया रूप, विशेष रूप से तुम् तथा त्वा प्रत्ययान्त रूपों में पर्याप्त भिन्नता प्रतीत होती है। वैदिक तथा लौकिकी के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत भाषा उत्तरोत्तर एकरूपता की ओर अग्रसर हो रही थी।

इस लेख में उपनिषदों में प्रयुक्त वैदिक क्रिया रूपों के आधार पर तथ्य को सप्रमाण पुष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।[1] एकादश-उपनिषदों तथा ऋग्वेदीय ऐतरेय तथा शांखायन आरण्यक के क्रिया रूपों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा रहा है। प्रारम्भ में एकादश उपनिषदों में तथा तत्पश्चात् ऋग्वेदीय आरण्यकों में उपलब्ध क्रिया रूपों का विवेचन किया गया है। सुविधा के लिए यहाँ धातुओं को वर्णो के क्रमानुसार रखा गया है। धातुओं के आगे कोष्ठक में दी गयी धातु संख्या सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार है।

"अच्-उदच्यते-पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।"

यह धातु पाणिनि धातुपाठ भ्वादिगण में अञ्चु (862) तथा अचि (862) पढ़ी गयी है। इसके रूप क्रमशः अचति-ते तथा अञ्चति-ते बनते हैं। लेकिन उपनिषदों में इसका उदच्यते रूप उपलब्ध होता है। यह दिवादिगणीय धातुओं के सदृश है। इसको वैदिकरूप माना जायेगा।

अस् (1066) भुवि- आस.........न ह पुरा ततः संवत्सर आस।[2] आसुः आप

1 बृ0 उ0 5.1.5.

2 बृ0उ0 1.2.4.

एवेदमग्र आसुः ....।[3] आप एवेदमग्र आसुः[4]

अस् धातु के ये उपलब्ध रूप आर्ष प्रयोग हैं, क्योंकि अस् को आर्धधातुक लकारों में भू आदेश होता है।[5] ये रूप आर्धधातुक लिट् लकार के हैं। शांकरभाष्य में भी आस का अर्थ बभूव किया है। इसके अन्यत्र भी प्रयोग मिलते हैं।[6]

ईख् अभिव्यैख्यत् स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्।[7]

पाणिनि धातुपाठ में ईख् (142) धातु भ्वादि में पढ़ी गयी है। इसका लुङ् लकार में ऐङ् खत् रूप बनता है। लेकिन उपनिषदों में इसका अभिव्यैखत् रूप उपलब्ध होता है। यह रूप दिवादिगण में बन सकता है।

ईश् (१०२०) ऐश्वर्ये ईशे....य ईशे....अस्य द्विपदश्चतुष्पदः।[8]

'ईशे' इस क्रिया रूप में तकार लोप वैदिक है। लौकिकी में ईष्टे रूप बनता है। वस्तुतः उपनिषदों में प्रथमपुरुष एकवचन में भी इट् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। लेकिन लौकिक संस्कृत में इट् प्रत्यय केवल उत्तम पुरुष एक वचन में ही होता है। शांकरभाष्य में भी इसका वैदिकरूप ही स्वीकार किया गया है।

द्विपदो मनुष्यादेश्चतुष्पदः पश्वादेश्च ईष्टे। तकार लोपश्छान्दसः।।(अ)

ऋच्छ् (१२९६) गतीन्द्रियमूर्तिभावेषु, अर्च्छ तदेनमर्च्छेति।[9]

यह प्रयोग अपाणिनीय है। क्योंकि उनके अनुसार ऋच्छ रूप बनता है। श प्रत्यय अपित् होने के कारण ङित्वत् होता है तथा क्ङिति च (पा0 1.1.5) से गुण का निषेध होता है। यह रूप भ्वादिगण में हो सकता है। परन्तु भ्वादिगण में पाणिनि ने इसका पाठ नहीं किया है।

क्रम् (४७३) पादविक्षेपे

उत्क्रामन्ते....तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते ..।[10] आक्रमन्ति.......

3 बृ0उ0 5.5.1

4 शा0भा0बृ0उ0पृ0 सं0 1194,

5 अस्तेर्भू पा0 2.4.52,

6 (क) संवत्सरः कालो नाम नास न बभूव ह। शा0भा0बृ0उ0 पृ0सं0 74. (ख) बृ0 उ0 1.4.3., 2.1.1., 2.1.13, 5.4.1., 6.2.4., छा0 उ0 4.1.1., 6.1.1 क0उ0 1.1.1

7 ऐ0उ0 1.3.13

8 श्वे. 4.13,6.17.

9 (क) शा.भा.श्वे.उ.बृ.सं. 189 (ख) छा.उ. 4.17:

10 प्र. उ. 2.4

येनाक्रमन्त्यृषयो।[11]

उपरि निर्दिष्ट दोनों उपलब्ध रूप अपाणिनीय हैं। पाणिनि ने परस्मैपदी प्रत्यय परे होने पर ही क्रम् धातु को दीर्घ का विधान किया है।[12] यहाँ स्थिति विपरीत है। उत्क्रामन्ते में आत्मनेपदी प्रत्यय परे होने पर क्रम् को दीर्घ हुआ है तथा आक्रमन्ति में परस्मैपदी प्रत्यय परे होने पर भी क्रम् धातु को दीर्घ नहीं हुआ है।

क्षि (पा.धा.पा. में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

क्षीयते, तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।[13]

पाणिनि धातुपाठ में क्षि धातु भ्वादिगण (236) स्वादिगण (1407) तथा तुदादिगण (1276) में पढ़ी गयी हैं तथा इसके रूप क्रमशः क्षयति, क्षिणोति, क्षियति बनते हैं। लेकिन उपनिषदों में इसके क्षीयते जैसे रूप उपलब्ध होते हैं, जो कि दिवादिगण के रूपों के अनुरूप ही बनते हैं। अन्यत्र स्थलों पर भी इसके रूप उपलब्ध होते हैं।[14]

छिद् (१४४०) द्वैधीकरणे व्यवच्छेत्सीः, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।[15]

यह प्रयोग अपाणिनीय है क्योंकि पाणिनि के अनुसार परस्मैपदी सिच् परे होने पर हलन्त धातु के अच् को वृद्धि होनी चाहिए।[16] तथा व्यवच्छैत्सीः जैसा रूप बनना चाहिए। लेकिन इस रूप में वृद्धि का अभाव होकर लघूपध गुण हुआ है।

जि (पा०धा० पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

जीयते..........सर्वज्यानि जीयते आत्मना।[17]

पाणिनि धातु पाठ में जि धातु भ्वादिगण (561, 946)17, चुरादिगण (1794) में पढ़ी गयी है। इसका जयति रूप बनता है। लेकिन उपनिषदों में उपलब्ध जीयते की रूप रचना दिवादिगण के रूपों के समान है।

अभिजयन्ते........ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।[18] जयते ...तं तं लोकं जयते।[19]

11 मु.उ. 3.1.6
12 क्रमः परस्मैपदेषु पा. 7.3.73
13 छा. 3.8.1.6
14 बृ.उ. 1.4.15, 1.4.15, 2.1.3, मु.उ. 2.2.8 छा. उ. 4.11.2, 4.12.2 4.13.2, बृ.उ. 1.5.1., 1.5.2, 1.5.2, 1.5.15.
15 तै.उ. शि.व. 11.1,
16 वदव्रज हलन्तस्याचः, पा. 7.2.3
17 बृ.उ. 1.5.15,
18 प्र.उ. 1.9,
19 मु.उ. 3.1.10.

पाणिनि के अनुसार जि धातु केवल वि एवं परा उपसर्गपूर्वक ही आत्मनपेदी होती है।[20] अन्यत्र नहीं। लेकिन उपनिषदों में वि एवं परा इतर अभि पूर्वक भी आत्मनेपदी है।

सत्यमेव जयते रूप में उपसर्ग के अभाव में भी यह आत्मनेपदी है।

ज्ञा (१५०७) अवबोधने

जानथ......यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यम्.......।[21]

यह उपलब्ध रूप भी अपाणिनीय है। क्योंकि पाणिनि के अनुसार क्रयादिगणीय धातुओं से श्ना प्रत्यय का प्रयोग होता है।[22] तथा उन्होंने ना के आ को ई का विधान किया है।[23] जिसके अनुसार जानीथ रूप बनता है, लेकिन यहाँ पर जानथ रूप उपलब्ध होता है। यदि इसे रुधादिगण की मानें तो जान्थ रूप बनेगा। अत: यह रूप वैदिक ही है।

धी (पा०धा०पा० में अदादिगण में अनुपलब्ध)

धीमहि–धीमहीति सर्वं पिबति।[24] पणिनि धातुपाठ में धीङ् (1136) धातु आधार अर्थ में दिवादिगण में पढ़ी गयी है। उसका विधिलिङ् लकार में रूप धीयेमहि बनता है। लेकिन उपनिषदों में धीमहि रूप अदादिगण की धातुओं के सदृश है।

धृ (पा०धा०पा० में चुरादिगण में अनुपलब्ध)

धारयस्व धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति।[25] पाणिनि धातु पा0 में धृ धातु भ्वादिगण (960) तथा तुदादिगण (1412) में पढ़ी गयी है जिसके रूप क्रमश: धरते तथा ध्रियते बनते हैं, लेकिन उपनिषदों में इसके रूप चुरादिगण के समान बनते हैं। वामन शिवराम आप्टे ने भी संस्कृत हिन्दी कोश में इसे चुरादिगण में भी माना है।[26] उपनिषदों के अतिरिक्त नीतिशास्त्र[27] तथा मनुस्मृति[28] में भी चुरादिगण के समान ही रूप मिलते हैं। उपनिषदों में यह अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है।[29]

20 विपराभ्यां जे:, पा. 1.3.19
21 मु.उ. 2.21, 2.2.5
22 क्र्यादिभ्यश्ना, पा. 3.181
23 ई हभ्यघो:, पा. 6.4.13
24 छा. 3.5 2.7,
25 बृ. उ. 3.8.5,
26 वामन शिवराम आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश पृ.सं 500
27 भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत् भर्तृ0 2.4
28 वैणवीं धारयेद्यष्टिम् सोदकं च कमण्डलुम्। मनु. 4.36
29 श्वे.उ. 2.9 प्र.उ. 2.3, 2.2., 2.1,

ध्मा (पा० धा०पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

प्रध्मायीत ....प्रत्यङ् वा प्रध्मायीत.....।[30] पाणिनि धातु पाठ में ध्मा धातु भ्वादिगण (927) में पढ़ी गयी है तथा इसका धमति रूप बनता है। इस उपलब्ध रूप को दिवादिगण का मानना अधिक युक्तिसंगत है। इस प्रयोग में धातु तथा प्रत्यय के मध्य आने वाले श्यन् तथा सीयुट् के अनुबन्ध लोप तथा सीय् के स् तथा य् का लोप होने पर य तथा ई के शेष बचने पर सन्धि नियमानुसार गुण होने[31] से इसका प्रध्मायेत प्रयोग बनता है। लेकिन यहाँ पररूप होकर प्रध्मायीत रूप बनता है। यदि ध्मा धातु के स्थान पर ध्मैङ् धातु की कल्पना करें तथा अदादिगण की माने तो प्रध्मायीत जैसा रूप बन सकता है।

ध्यै (९०८) चिन्तायाम्

ध्यायथ........ओमित्येवं ध्यायथ।[32] यह ध्यै धातु का लेट् लकार का रूप है। पाणिनि के अनुसार लौकिक संस्कृत में लेट् का प्रयोग नहीं होता। निदिध्यासस्व निदिध्यासस्वेति।[33]

निदिध्यासितव्य: ....मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:।[34] ध्यै धातु के दोनों सनन्त रूप अपाणिनीय हैं क्योंकि पाणिनि ने इच्छार्थ में सन् प्रत्यय का वैकल्पिक विधान किया है।[35] लेकिन ये दोनों रूप इच्छार्थ से भिन्न स्वार्थिक सन् के साथ उपलब्ध होते हैं।

नम् (पा० धा० पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

नम्यन्ते......नम्यन्तेऽस्मै कामा:।[36] पाणिनि धातुपाठ में इस धातु को भ्वादिगण (981) में पढ़ा गया है तथा इसके नमति-ते रूप बनते हैं। लेकिन उपनिषदों में उपलब्ध रूप दिवादिगण की धातु के सदृश है। अत: इसे दिवादिगण की ही मानना उचित है क्योंकि यह कर्तृवाच्य का रूप है कर्मवाच्य का नहीं। शांकर भाष्य में भी इसे कर्तृवाच्य का ही माना है। नम्यन्ते प्रह्वीभवन्त्यस्भा उपासित्रे कामा:[37]

पत् (८४५) गतौ

सम्पत्स्ये विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।[38] यहाँ पर प्रथम पुरुष एक वचन के स्थान पर उत्तम पुरुष एक वचन का प्रयोग हुआ है। शांकरभाष्य में भी सम्पत्स्ये का अर्थ सम्पत्स्यते हैं।[39]

30 छा.उ. 6.14.1
31 आद् गुण: पा. 6.1.84
32 मु.उ. 2.2.6
33 बृ. उ. 2.4.4
34 बृ.उ. 2.4.5
35 धातो:कर्मण: समानकर्तृकादिच्छायां वा पा. 3.1.7
36 (अ) तै.उ. भृ.व. 10.4
37 शा.भा.तै.उ. पृ.सं. 236
38 छ.उ. 6.14.2
39 अथ तदैव सत्सम्पत्स्ये सम्पत्स्यत इति पूर्ववत् शा.भा.छा. उ. कृ. सं. 689.

प्रच्छ् (१४१३) ज्ञीप्सायाम्

अप्राक्ष्य: तमोदेशमप्राक्ष्य:।[40] यह प्रच्छ् धातु का रूप अपाणिनीय है। पाणिनि के अनुसार यह रूप अप्रक्ष्य: बनता है। यहाँ पर वृद्धि होना तथा सम्प्रशन अर्थ में लृङ् लकार का प्रयोग आर्ष है।

भुज् (१४५४) पालनाभ्यवहारयो:

अभुनजत् ....सर्व सन्नयमितोऽभुनजदिति।[41] प्रस्तुत रूप अपाणिनीय है। रुधादिगणीय भुज् धातु का लङ् लकार प्रथम पुरुष एक वचन में अभुनक् रूप बनता है। यह धातु तुदादिगण में भी पढ़ी गयी है। यहाँ इसका रूप अभुजत् बनता है। अभुनजत् रूप तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम इसमें श्नम् तथा शप् दोनों विकरणों को स्वीकार करें। ऐसा स्वीकार करना ही तर्क संगत है। इस प्रयोग के कारण हम कह सकते हैं कि वैदिक में धातु तथा तिङ् प्रत्ययों के बीच एक से अधिक विकरण भी प्रयुक्त होते थे जबकि पाणिनि धातु तथा तिङ् के मध्य एक ही विकरण का विधान करते हैं। नेषतु[42] तरुषेम[43] जैसे उपलब्ध रूपों से यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में धातु तथा तिङ् के मध्य एकाधिक, दो या तीन विकरणों का भी प्रयोग हो सकता था जबकि लौकिक साहित्य में ऐसा नहीं है।

भू (१) सत्तायाम्

अनुभूत्वा.........अनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।[44] पाणिनि के अनुसार उपसर्ग पूर्व में होने पर ही क्त्वा के स्थान पर ल्यप् का प्रयोग होता है।[45] लेकिन इस रूप में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् का प्रयोग नहीं हुआ है। अत: यह अपाणिनीय प्रयोग है।

मन् (११७६)

मन्यासै..........अन्यत्रास्मन्मन्यासै........।[46] यह रूप लेट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन का है। लेट् का प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं है।

मिष् (पा० धा० पा० में चुरादि गण में अनुपलब्ध)

न्यमीमिषद्। तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा 3 इतीन्न्यमीमिषदा 3।[47] पाणिनि

40 छा. उ. 6.1.2.
41 बृं.उ. 1.15.17.
42 सि. कौ. सूत्र 3433 व्यत्ययो बहुलम् पा. 3. 1.85
43 वही
44 मु.उ. 1.2.10.
45 समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् या. 7.1.37 पा.
46 बृ. उ. 3.9.25
47 के. उ. 4.4.,

धातुपाठ में यह धातु भ्वादिगण (699) तथा तुदादिगण (1352) में पढ़ी गयी है। लुङ् लकार में इसका अमेषीत् रूप बनता है। न्यमीमिषद् रूप तभी बन सकता है जब इसे चुरादिगण का बना माना जाए।

मुच् (पा०धा०पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

परिमुच्यन्ति- परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।[48] यह प्रयोग अपाणिनीय है। यह प्रयोग कर्मवाच्य का है तथा पाणिनि के अनुसार कर्मवाच्य में आत्मनेपद का प्रयोग होता है।[49] लेकिन यहाँ पर कर्मवाच्य होने पर भी परस्मैपद का प्रयोग हुआ है। मुच् धातु साहित्य में सकर्मक है।[50] परन्तु उपनिषदों में इसका अकर्मक रूप भी मिलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि धातु का अर्थ छोड़ना है परन्तु यहाँ पर छुटना अर्थ है। यदि इसे कर्तृवाच्य का रूप मानें तो इसे दिवादिगण में मानना पड़ेगा। वैसे पाणिनि धातु पाठ में यह भ्वादिगण में मुचि (172) तथा तुदादिगण में मृच्लृ (1430) पढ़ी गयी है। विमोक्ष्ये विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।[51] यहाँ पर प्रथम पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष का प्रयोग हुआ है।[52]

मृज् (१०६६) शुद्धौ

मृजे.......त्वयि मृजे स्वाहा।[53] यह लेट् लकार का प्रयोग है। लोक में इस लकार का प्रयोग नहीं होता।

म्लुच् (१९६) गत्यर्थः

निम्लोच- न वै तत्र न निम्लोच।[54] यह प्रयोग अपाणिनीय है। क्योंकि पाणिनि के अनुसार लिट् लकार में धातु को द्वित्व होता है तथा मुम्लोच रूप बनता है। यहाँ पर द्वित्व का अभाव है।

युज् (११७७) समाधौ

विनियोजयेत् सर्वान्विनियोजयेत्।[55] लट् लकार की क्रिया के स्थान पर विधिलिङ् लकार का प्रयोग हुआ है। युक्त्वाय- युक्त्वाय मनसा देवान्।[56] यह वैदिक प्रयोग है। वेद में

---

48 मु. उ. 2.6

49 भावकर्मणोः, पा. 1.313

50 यशोधनो धेनुभृषेर्मुमोचरधु. 2.1, 3.20, मनु. 8.202, मोक्ष्यते सुरवन्दीनां वेणीवीर्यं विभूतिभिः क.2.61। रघु. 10.47.

51 छा. 6.14.2.

52 यवान्न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यत इत्येतत् पुरुष व्यत्ययेन --। शा.भा. छा. उ. पृ.सं. 689.

53 तै. उ. शि. व. 4.3

54 छा. उ. 3.11.2,

55 श्वे. उ. 5.5

56 श्वे. उ. 2.3

त्वाय प्रत्यय इकट्ठा प्रयुक्त हो सकता है लेकिन लौकिक में त्वा तथा य का अलग-अलग प्रयोग होता है। नञ् भिन्न समास युक्त धातु के साथ य का तथा अन्यत्र धातु के साथ त्वा का प्रयोग होता है।

रिष् (६९४) हिंसार्थाः

रीरिषः मानो अश्वेषु रीरिषः। यह धातु पाणिनि धातुपाठ में म्वादिगण तथा दिवादिगण (1231) में पठित है। इसका लुङ् लकार में अरेषीत् रूप बनता है। उपनिषदों में उपलब्ध रूप के आधार पर इसको चुरादिगण की मानना पडेगा।

रुद् (१०६७) अश्रूविमोचने

उपरोत्सीः या मोपरोत्सीः।[57] यह प्रयोग अपाणिनीय है। पाणिनि के अनुसार उपरौत्सीः रूप बनता है। अतः यहाँ पर वृद्धि के स्थान में गुण होना अपाणिनीय है।

वद् (१००९) व्यक्तायां वाचि

वावदिषत्- किमिहान्यं वावदिषदिति।[58] यह यङ् लुक् में लेट् लकार का प्रयोग है तथा यहाँ पर यङ् लुक् का प्रयोग तो हैं लेकिन यहाँ भृशार्थ या पौनः पुन्यः अर्थ नहीं है।

शक् (पा०धा०पा०) में तुदादि गण में अनुपलब्ध)

शकेमहि- नाचिकेतानं शकेमहि।[59] पाणिनि धातुपाठ में यह धातु भ्वादि (86) दिवादिगण (1187) तथा स्वादिगण (1261) में पठित है। इसके रूप क्रमशः शङ्कति, शक्यति- ते तथा शक्नोति बनते हैं। यह रूप तुदादिगण में ही बन सकता है।

सु (१०४१) प्रसवैश्वर्ययोः

प्रसुवाति- सविता प्रसुवाति तान्।[60] यह लेट् लकार का प्रयोग है। इस लकार का प्रयोग वैदिक तक ही सीमित रहा है। स्था (1928) गतिनिवृतौ स्थाप्य- त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं।[61] यह प्रयोग भी अपाणिनीय है। पाणिनि के अनुसार स्थापयित्वा रूप बनता है। क्त्वा को ल्यप् आदेश उपसर्ग पूर्व में होने पर ही होता है। यहाँ उपसर्ग रहित होने पर भी क्त्वा को ल्यप् आदेश हुआ है।

57 श्वे. उ. 4.22
58 क.उ. 1.1.21
59 ऐ.उ. 1.3.13,
60 क.उ. 1.3.2
61 श्वे.उ. 2.3.

स्तु (१०४३) स्तुतौ

स्तुन्वन्ति- ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति।[62] यह अपाणिनीय प्रयोग है। यह धातु पाणिनि धातु पाठ में अदादिगण में पढ़ी गयी है। तथा इसका रूप स्तुवन्ति जैसा रूप तो स्वादिगण में ही बन सकता है।

ही (पा०धा०पा० में दिवादिगण में अनुपलब्ध)

हीयते-साधुभवति हीयेते।[63] यह रूप कर्तृवाच्य का है। यह ओहाक् तगे तथा ओहाङ् गतौ धातु के कर्मवाच्य का रूप नहीं हो सकता। अतः इसे दिवादिगण की ही मानना पडेगा। ऐसा प्रयोग कालिदास के रघुवंशम् में भी उपलब्ध होता है।[64] उपनिषदों में अन्यत्र स्थलों पर भी उपलब्ध होता है।[65]

ऋग्वेदीय आख्यकों में उपलब्ध रूप

अद् (१०१) भक्षणे

अदाम- अन्नमदामेति।[66] यह रूप लेट् लकार का है। यह छान्दस् प्रयोग है क्योंकि लौकिक साहित्य में इस लकार का प्रयोग नहीं होता।

अस् (१०६६) भुवि

असत्- तन्मेऽसदित्यथ।[67] अस् धातु का असत् प्रयोग लेट् लकार का है। इस लकार का प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं होता है।

इण् (१०४५) गतौ

प्रैतोः-आ प्रैतोरिति ह।[68] पाणिनि ने क्रियार्थक क्रिया के लिए तुमुन्, तोसुन्, ध्यै जैसे अनेक प्रत्ययों का विधान किया है लेकिन लौकिक संस्कृत में केवल तुमुन् प्रत्यय का ही प्रयोग होता है। शेष प्रत्ययों का प्रयोग वैदिक में होता है। प्रस्तुत अंश में इण् धातु से तोसुन् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

62 श्वे.उ. 2.8.

63 प्र.उ. 2.4.

64 क.उ. 1.2.1.

65 प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः रघु. 17.71

66 (अ) प्र.उ. 3.11. छा. उ. 4.16.3, 4.16.4.

67 ऐ.आ. 2.3.5 अन्यत्र ऐ.आ. 2.3.5

68 ऐ. आ. 2.4.2.

ईक्ष् (६१०) दर्शने

ईक्षत- स ईक्षत लोकान्नु।[69] ईक्षत में आट् का अभाव वैदिक है क्योंकि लौकिक में ऐक्षत रूप बनता है।

ऊह् (६४८) वितर्के

अपोहति- प्रेङ् खफलकमपोहति। पाणिनि धातु पाठ में ऊह् भ्वागिण में आत्मनेपदी पढ़ी गई है लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यको में इसका परस्मैपदी रूप उपलब्ध होता है।

ऋच्छ् (१२९६) गतीन्द्रियमूर्तिभावेषु

ऋच्छन्ते- मृत्वाऽन्नमृच्छन्ते।[70] यह धातु पाणिनि धातु पाठ में तुदादिगण में परस्मैपदी मानी गयी है लेकिन यहाँ इसका आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होता है।

कृ (१२५३) हिंसायाम्

कृणुही- कृणुही न इन्द्रः।[71] स्वादिगणीय कृधातु का यह रूप छान्दस् है क्योंकि पाणिनि के अनुसार लौकिकी में कृणु रूप बनता है।

चर् (५५९) गत्यर्थः

चरितोः- तिथिरेव चरितोः इति।[72] यहाँ पर चर् धातु से तोसुन् प्रत्यय का प्रयोग क्रियार्थक क्रिया के लिए हुआ है। यह छान्दस् प्रयोग है। लौकिक में केवल तुमुन् प्रत्यय का ही प्रयोग होता है।

जॄ (११३०)

जीर्यते- यावदेतयोर्नजीर्यते।[73] पाणिनि धातुपाठ में यह धातु दिवादिगण में परस्मैपदी पढ़ी गयी है लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में इसके आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होते हैं।

त्रप् (८१६) लज्जायाम्

अत्रप्स्यत्- ह वान्नमत्रप्स्यत्।[74] भ्वादिगणीय त्रप् धातु पाणिनि धातुपाठ में आत्मनेपदी है लेकिन यहाँ इसका परस्मैपदी रूप मिलता है।

69 ऐ.आ. 1.4.3
70 ऐ. आ. 2.4.1
71 शां.आ. 2.17
72 शां.आ. 4.12 अन्यत्र वही 4.13.
73 ऐ.आ. 5.2.2
74 ऐ.आ. 1.1.1

दद् (१७) दाने

ददाम- उपमन्ययन्ते ददाम त इति।[75] पाणिनि धातु पाठ में भ्वादिगणीय दद् धातु आम्मनेपदी पढ़ी गयी है लेकिन यहाँ इसका परस्मैपदी रूप मिलता है।

धृ (९००) धारण

दाधार- न विव्याचेति।[76] लौकिक संस्कृत में दधार रूप होता है। अभ्यास को दीर्घ वैदिक की विशेषता है।

नम् (९८१) प्रह्वत्वे शब्दे च

संनमन्ते- श्रेष्ठयाय संनमन्ते।[77] अनमन्त- अनमन्त प्रोष्वस्मै।[78] पाणिनि धातु पाठ में यह धातु परस्मैपदी है लेकिन यहाँ इसके आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होते हैं।

मन् (११७६) ज्ञाने

उपमन्ययन्ते-उपमन्ययन्ते ददाम त इति।[79] यह प्रयोग अपाणिनीय है। क्योंकि पाणिनि के अनुसार मन् धातु का उपमन्यते रूप बनता है। यहाँ पर दो विकरणों का प्रयोग किया गया है।

रुध् (१४३८) रुधादिगण

अवरुद्ध्यै-पशूनामवरुद्ध्यै।[80] रुध् धातु से तुमुन् अर्थक ध्यै प्रत्यय भी तोसुन् की भांति वैदिक प्रत्यय है।

वय् (४७५) गतौ

अभ्यपवयत- स इदं सर्वमभ्यपवयत।[81] उद्वयति- रज्जूभ्यामूर्ध्वमुद्वयति।[82] प्रवयति- तस्मिन्यजुर्मयं प्रवयति।[83] पाणिनि धातु पाठ में भ्वादिगणीय वय् धातु आत्मनेपदी पढ़ी गयी है। लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में इसके परस्मैपदी रूप भी उपलब्ध होते हैं। अतः यहाँ पर धातु उभयपदी है।

75 ऐ.आ. 2.1.7 (8 बार)
76 ऐ.आ. 2.4.3 (7 बार)
77 शां.आ. 4.2
78 ऐ. आ. 1.5.2. अन्यत्र वही 2.1.7
79 शां.आ. 4.6.
80 ऐ.आ. 1.1.2 अन्यत्र वही 1.1.3, 1.1.4, 1.2.3, 1.2.3, 1.3.8, 1.5.2
81 ऐ.आ. 2.2.2
82 ऐ.आ. 5.1.3,
83 शां.आ. 4.6

विश् (१४२४) प्रवेशने

प्रविशाम-पुनः शरीरं प्रविशाम।[84] यह विश् धातु का लेट् लकार का रूप है। लौकिक में इस लकार का अभाव है। वृञ्ज् (पा0धा0पा0 में अनुपलब्ध) वृञ्जन्ति- त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति।[85]

वृजी (१०२९) वर्जने

पाणिनि धातु पाठ में वृजी (1029) वर्जने पढ़ी गयी है। कुछ के मत में यह इदित् मानी गयी है। तब इसका वृङ्क्ते रूप बनता है। वृञ्जन्ति रूप तभी बन सकता है जब से वृजि भ्वादिगण की माने। अतः यह रूप अपाणिनीय है।

व्रज् (२५३) गतौ

व्रजेत्- पिता वसेत्परि वा व्रजेत्।[86] व्रजते-व्रजन्व्रजते न शयानः।[87] भ्वादिगणीय व्रज् धातु पाणिनि धातुपाठ में परस्मैपदी पढ़ी गयी है। लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में यह उभयपदी है, क्योंकि इसके आत्मनेपदी रूप भी उपलब्ध होते हैं।

शस् (७२८) स्तुतौ

शंसति- शंसति सर्वेषां कामानामवरुद्ध्यै।[88] शंसिष्यते-संदधत्येतदुक्तं शंसिष्यते।[89] पाणिनि धातु पाठ में भ्वादिगणीय शंस् धातु परस्मैपदी है। लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में यह उभयपदी है, क्योंकि इसका आत्मनेपदी रूप भी उपलब्ध होता है।

सृज् (१४१४) विसर्गे

असृजत्-स इमांल्लोकानसृजत् इति।[90] अतिसृजते-यः प्रत्याह तमतिसृजते।[91] उपसृजते-आत्मानमुपसृजते।[92] उत्सृजति- उत्तरमधर्चमुत्सृजति।[93] तुदादिगणीय सृज् धातु पाणिनि धातुपाठ में परस्मैपदी पढ़ी गयी है परन्तु ऋग्वेदीय आख्यकों में इसके आत्मनेपदी रूप भी उपलब्ध होते हैं। अतः यह यहाँ उभयपदी है।

84 ऐ. आ. 2.1.4.
85 ऐ. आ. 1.3.4. (दो बार)
86 शां.आ. 4.15
87 ऐ.आ. 5.3.3. 88.
88 ऐ.आ. 1.1.3 (65 बार)
89 शां.आ. 1.5
90 ऐ.आ. 2.4.1
91 शां.आ. 3.2.
92 शां.आ. 2.1
93 शां.आ. 2.1

स्था (९२८) गतिनिवृत्तौ

तिष्ठते- न तिष्ठंस्तिष्ठते न।[94] पाणिनि के अनुसार स्था धातु प्रकाशन एवं स्थेयाख्या अर्थ में आत्मनेपदी है।[95] यहाँ पर उससे भिन्न अर्थ में यह धातु आत्मनेपद में प्रयुक्त हुई है।

स्मृ (८०७) चिन्तायाम्

स्मरन्ते- प्रियो हैंव भवति स्मरन्ते हैं वास्य।[96] यद्यपि भ्वादिगणीय स्मृ धातु पाणिनि धातुपाठ में परस्मैपदी है लेकिन ऋग्वेदीय आरण्यकों में इसका आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होता है। महाकाव्यों में भी इसके आत्मनेपदी रूप उपलब्ध होते हैं।[97]

हन् (१०१२) हिंसागत्योः

हन्ति- स एनं हन्ति वराह।[98] अपघ्नते- पाप्मानमपघ्नते इति।[99] अदादिगणीय हन् धातु के ऋग्वेदीय आरण्यकों में उभयपदी रूप मिलते हैं, जबकि पाणिनि धातुपाठ में यह परस्मैपदी है।

निष्कर्ष

एकादशोपनिषदों में 297 धातुओं के कुल 5566 क्रिया रूप उपलब्ध होते हैं। जिनमें से तिङन्त 4950 कृदन्त 554 तथा प्रत्ययान्त रूप 62 हैं। इनमें से 69 रूप अपाणिनीय है। जिनकी प्रतिशत संख्या 1.24 है। इनमें लेट् लकार का चार स्थलों पर प्रयोग हुआ है। विध्यर्थक तुमन् प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। इस अर्थ वाले से, असे, तवे, तवै,ध्यै, तोसुन् आदि प्रत्ययों का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है। क्त्वा तथा ल्यप् के प्रयोग में समास सहित क्त्वा तथा समास रहित ल्यप् का प्रयोग भी मिलता है।

इन रूपों की यदि केवल ऐतरेय एवं शांखायन इन दो आरण्यकों के क्रियारूपों में प्राप्त वैदिकरूपों से तुलना करें तो यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि परवर्ती भाषा वैदिक की अपेक्षा लौकिकी के अधिक निकट है।

ऋग्वेदीय दो आरण्यकों में 179 धातुओं के 2365 रूप मिलते हैं। जिनमें से 1976 तिङन्त, 205 कृदन्त तथा 184 प्रत्ययान्त रूप हैं। इनमें अपाणिनीय रूपों की संख्या 50 है। जिनकी प्रतिशत संख्या 2.11 है। इनमें तीन स्थानों पर लेट् लकार का प्रयोग हुआ है। विध्यर्थक तुमुन् के साथ-साथ ध्यै तथा तोसुन् का भी प्रयोग उपलब्ध होता है।

94 ऐ.आ. 5.3.3.

95 प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च पा. 1.3.23

96 शां.आ. 2.1

97 वामन शिवराम आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश पृ.सं. 1152.

98 शां.आ. 11.4 (3 बार)-12.5 (2 बार)

99 ऐ.आ. 1.1.2

आनुपातिक प्रतिशत की दृष्टि से देखने पर इन रूपों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् काल की संस्कृत भाषा लौकिक संस्कृत अथवा पाणिनि संस्कृत के समीप हो चली थी।

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक भाषा ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक आते-आते लौकिकी की निकटवर्ती हो चली थी। आरण्यक, ब्राह्मण तथा संहिताओं की भाषा में वैदिक और लौकिकी प्रयोगों की संख्या क्रमशः अधिक होती चली गयी है। वस्तुतः उपनिषदों की भाषा वैदिक और लौकिकी के संधिस्थल की भाषा है, जो वैदिक की अपेक्षा लौकिकी के अधिक निकट हैं। उपनिषदों में लेट् लकार के प्रयोग केवल 4 ही मिलते हैं जबकि पूर्ववर्ती भाषा में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। यहाँ पदव्यत्यय का अनुपात भी पर्याप्त कम है।

डॉ0 आशा
रीडर संस्कृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

प्राच्य-दूताधिकरणम्

राजा तथा राज्य-प्रशासन के साथ ही दूतों की आवश्यकता अनुभव की गई। सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इनकी आवश्यकता और उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। दूसरे राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने के लिए दूत की आवश्यकता पड़ी। उनके माध्यम से ही राजा दूसरे राष्ट्रों से सन्धि-विग्रह, राजनीतिक और आर्थिक आदि सम्बन्ध स्थापित करता था। दूत के माध्यम से ही राजा अन्य राष्ट्रों में अपने शत्रु और मित्रों का पता लगाता था तथा वहाँ की गोपनीय बातों की भी जानकारी प्राप्त करता था। प्रजा राजा से प्रसन्न है या अप्रसन्न है, जनता की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक स्थिति कैसी है, न्याय और दण्ड़-व्यवस्था का आकलन आदि की प्रामाणिक सूचना प्राप्त कर राजा दूतों को नियुक्त करता है।

'दूत' शब्द (दु+क्त, दीर्घश्च, दूत+कन्) का अर्थ है- सन्देशहर, सन्देशवाहक, राजदूत।[1] दूत शब्द का प्रयोग वैदिक काल से प्रचलित है। दूत सन्देश-वाहक होता है। वह सन्देशों का आदान-प्रदान करता है। अपने राजा का सन्देश दूसरे राजा तक पहुँचाता है और दूसरे राजा का सन्देश अपने राजा तक पहुँचाता है। अतएव राजशास्त्र-प्रणेताओं ने दूत को राजा का मुख कहा है। राजा के सो जाने पर भी दूत अपना कार्य करते रहते हैं, अतः कहा गया है कि राजा के ये दूत सदा सक्रिय रहते हैं और कभी भी नही सोते हैं।[2]

वेदों में दूतों को प्रतिष्ठित और यशस्वी कहा गया है।[3] इससे ज्ञात होता है कि दूत का स्थान आदरणीय होता था। वेदों में कुछ ऐसे भी देव है, जिन्हें देवदूत की उपाधि से अलंकृत किया गया है। देवों में अग्निदेव को सर्वश्रेष्ठ दूत होने का श्रेय प्राप्त है। यज्ञ में प्रदत्त हवि को अग्नि ही दूत के रूप में सभी देवों तक पहुँचाता है, अतः उसका बहुत महत्त्व है। दूत का कार्य है- अपने स्वामी का सन्देश यथास्थान पहुँचाना है। यज्ञ में अग्नि समस्त द्रव्य पदार्थों को जलाकर भस्मसात् कर देता है और उनके सारभाग को सूक्ष्म रूप में सभी देवों को यथास्थान पहुँचा देता है, अतः उसे आदर्श दूत के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनेक मन्त्रों में अग्नि को दूत कहा गया है।[4] अग्नि को सूर्य का दूत कहा गया है।[5] अग्नि विशः (जनता) का भी दूत है।[6] अग्नि सभी देवों का दूत है।[7] वेदों में अग्नि के अतिरिक्त कुछ पशु-पक्षियों आदि को भी देवों का दूत गिनाया गया

1 संस्कृत-हिन्दी कोश-वामन शिवराम आप्टे पृष्ठ 468

2 ऋग्वेद 9.73.4

3 ऋग्वेद 10.106.2

4 वही 1.12.1/8.44.3

5 वही 1.58.1

6 वही 1.36.5

7 वही 4.9.2

है। ऋग्वेद में बादलों को वर्षा का दूत बताया गया है।[8] यमराज के दो कुत्तों को यम का दूत कहा गया है।[9] ऋग्वेद के एक मन्त्र में सूर्य को सारे संसार का दूत (स्पश्) बताया गया है।[10] इससे ज्ञात होता है कि अग्नि, सूर्य आदि देवों के तुल्य पशु-पक्षियों आदि को संवाद-संप्रेषण के माध्यम के कारण दूत कहा गया है। इस प्रकार वेदों में दूत और दूत कर्म का पर्याप्त विशद वर्णन प्राप्त होता हैं

राज्य संचालन में दूत-व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख वेदों में प्राप्त नहीं होता है। कतिपय सन्दर्भ ऐसे हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजा अपना सन्देश दूतों के माध्यम से दूसरे राजा तक पहुँचाता था। वेद में सन्देश दूतों के माध्यम से दूसरे राजा तक पहुँचाता था। वेद में सन्देश-वाहन के लिए केवल दूत ही नही, अपितु दूती का भी उल्लेख है दूत द्वारा वहन किए जाने वाले सन्देश को दूत्य और दूत के कार्य को दूत्य कर्म कहा गया है। ऋग्वेद में देवदूती सरमा (देवशुनी, कुतिया, बुद्धि) और पणि राजा का संवाद वर्णित है।[11] इन्द्र ने देवदूती सरमा के द्वारा पणियों को सन्देश भेजा कि वे पहाड़ों में छिपाये गए धन को और गायों को इन्द्र को दे दें, अन्यथा देवगण युद्ध करके यह सब छीनकर ले जाएंगे। पणियों के राजा ने इसका (सरमा) स्वागत किया और उसे भगिनी कहा। पूरा सन्देश सुनने पर पणि राजा ने कहा कि हमारे पास भी शस्त्राशस्त्र है, विना युद्ध के तुम्हें कौन गायादि देगा। साथ ही यह भी कहा कि तुम हमारी भगिनी हो, तुम यही रुक जाओ और इन्द्र के पास लौटकर न जाओ। परन्तु सरमा ने उनकी बात अस्वीकार कर दी और यह कहकर लौट आई कि इन्द्रादि देवगण तुम्हारे ऊपर आक्रमण करेंगे और जीतकर गायों को ले जाएगें।

इस संवाद से ज्ञात होता है कि राजा अपना सन्देश भेजने के लिए दूत या दूती रखते थे। दूत निर्भीक होकर दूसरे राजा को अपना सन्देश पहुँचाते थे। भय या लालच देने पर भी दूत शत्रु राजा के पक्ष में नहीं जाता था। दूत अपने स्वामी का भक्त बना रहना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। वह निर्भय होकर अपने राजा के प्रताप का वर्णन करता था तथा किसी प्रलोभन में नहीं फँसता था।

दूती के द्वारा दूत्य कर्म करना यह वैदिक ऋषियों की उदात्तता का परिचायक है।[12] इससे नारी के साहस, गौरव, दक्षता और कार्यपटुता का ज्ञान होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में दूत-कर्म के लिए पुरुष और महिला दोनों की नियुक्ति वर्णित है। देवों में अग्निदेव सबसे सफल दूत है और नारी के रूप में सरमा सफल दूती है। दोनों ने अपना

8 वही 5.83.3
9 वही 10.14.11-12
10 वही 4.13.3
11 वही 10.108.1.11
12 वही 10.108.3

कार्य बड़ी उत्तमता से संपादित किया है।

वेदों में दूतों के गुण-कर्म के विषय में विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है। मन्त्रों में दूत शब्द के जो विशेषण दिये गये हैं उनसे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में दूत के गुणों का उल्लेख इस प्रकार है[13] 1. **विशां मन्द्रः**- प्रजा का हर्षवर्धक हो। 2. **गृहपतिः**- अग्नि के तुल्य अपने गृह अर्थात् स्वराष्ट्र के हितों का रक्षक हो। राजा और प्रजा दोनों के हर्ष की वृद्धि करे और उनके हितों का संरक्षण करे। इसी प्रसंग में ऋग्वेद में दूत के साथ इन देवों का भी उल्लेख है- मित्र, वरुण और अर्यमा।[14] दूत मित्र के तुल्य सारे जीवों का हितैषी हो, वरुण के तुल्य उदार हो और अर्यमा के तुल्य न्यायकारी हो। आगे मन्त्र में कहा गया है कि ऐसा दूत जिसके पास होता है, वह सारे संसार को जीत लेता है। एक अन्य मन्त्र में दूत के गुणों का उल्लेख है कि-**मही बृहती शतमा गीः**-अर्थात् दूत की वाणी बहुत सन्तुलित एवं शान्तमुद्रा में हो। महान् और गम्भीर सन्देश को भी वह बड़ी शान्ति से प्रस्तुत करे।[15]

एक अन्य मन्त्र में दूत के दो गुणो का उल्लेख है-1 **क्षपावान्**- क्षपा पृथ्वी का रक्षक। दूत का कार्य सन्धि-विग्रह है, अतः वह अपने राजा की भूमि का रक्षक होता है।2 **अतन्द्रः**- तन्द्रा या आलस्य से रहित हो। दूत में आलस्य, प्रमाद या दीर्घसूत्रता आदि दुर्गुण नही होना चाहिए।[16] ऋग्वेद के एक मन्त्र में दूत के इन गुणों का उल्लेख है- **श्रेष्ठः**- ज्ञानादि में वह श्रेष्ठ हो। **यविष्ठः**- अत्यन्त युवा हो अर्थात् शरीर से हृष्ट-पुष्ट हो। **न निन्दिमः**- निन्दनीय न हो अर्थात् समाज में प्रतिष्ठित हो। **महाकुलः**-कुलीन हो, उच्चकुल में उत्पन्न हुआ हो। कुलीनता के साथ-साथ गम्भीरता, शालीनता, निर्लोभ एवं अलोलुपता आदि गुण आते हैं। अतः महाकुलः विशेषण दिया गया है। भ्राता या बन्धु के तुल्य दूसरे की सहायता करने वाला हो।[17]

कुछ अन्य मन्त्रों में भी दूत के गुणों का उल्लेख है- दूत सन्देश-वाहक होता है।[18] **आशुम्**- वह शीघ्र कार्य करने वाला हो। **केतुम्**-ध्वजा के तुल्य हो, अर्थात् समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति हो।[19] **दूत्यानि विद्वान्**-दूतकर्म को जानने वाला हो, अर्थात् इस विषय का विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए हो। **संचिकित्वान्-प्रबुद्ध**, विद्वान् सतत सावधान, चौकन्ना हो। दूत को सर्वदा सावधान रहना चाहिए। **विदुष्टरः**- अधिक विद्वान् या अधिक सुशिक्षित

13 वही 1.36.5
14 ऋग्वेद 1.36.4
15 वही 5.43.8
16 वही 7.10.5
17 वही 1.161.1
18 वही 4.33.1
19 वही 4.7.4

हो।[20] इसी भाव को एक अन्य मन्त्र में भी कहा गया है।[21] **विश्ववेदसम्**- सर्ववित् अर्थात् सभी विषयों की जानकारी रखता हो। **यजिष्ठम्**- अत्यन्त सम्मानीय, समाज में अत्यन्त आदरणीय हो।[22]

दूत की अन्य विशेषताएँ भी बताई गई **है- अजिरः**-चुस्त, फुर्तीला और साहस वाला हो। **अयः शीर्षा**- सिर पर सुनहरी टोपधारी हो। **मदेरघुः**- प्रसन्नचित्त रहते हुए अतिशीघ्र कार्य करने वाला हो।[23] **दूडभः**- दूत अवध्य होता है। उसकी हिंसा या उसका वध नही किया जा सकता है। **प्राणीः**- स्वच्छन्द रूप से सर्वत्र विचरण करने में समर्थ एवं अग्रगामी हो।[24] **उशन्तौ दूतौ न दभाय**- दूसरों का हित करने की इच्छा वाला हो। साथ ही किसी का अहित न करने वाला हों **गोपा**- जनता का रक्षक हो।[25] **जन्य**-दूत जनहितकारी हो, जनता का हित करने वाला हो। **हव्य**-आदरणीय, ससम्मान बुलाए जाने योग्य। दूत सभी प्रतिष्ठित स्थानों पर सादर आमन्त्रित करने योग्य होता है।[26] **यशसा जनेषु**-दूत समाज में यशस्वी होता है। उसका सर्वत्र सम्मान होता है और वह समाज में सम्मानीय व्यक्तियों में गिना जाता है।[27]

अथर्ववेद में भी दूतकर्म दृष्टिगत होता है। वहाँ पर मृत्यु को यम का दूत कहा गया है।[28] कबूतर को निऋति (विपत्ति) का दूत कहा गया है।[29] एक अन्य मन्त्र में कपोत और उल्लू को निऋति (विपत्ति संकट) का दूत वर्णन किया गया है।[30]

यजुर्वेद का कथन है कि द्रव्य-वाहक होने के कारण अग्नि दूत है और वह पुरोधा या पुरोहित है।[31] यजुर्वेद के एक मन्त्र में दूत के ये गुण गिनाये गए है।[32] **उशिक्**- मेधावी होना चाहिए। **हव्यवाह्**- हव्य के तुल्य सन्देश का वाहक हो। **चनोहितः**- चनस्ट का अर्थ मनुष्य या प्रजा है। वह जनता का हितकारी हो। **धिया समृण्वति**- बुद्धि या सूझ-बूझ से युक्त हो।

---

20 वही 4.7.8
21 वही 4.8.4
22 वही 4.8.1
23 वही 8.101.3
24 वही 4.9.2
25 वही 6.91.2
26 वही 2.39.1
27 वही 10.106.2
28 अथर्ववेद 18.2.26
29 वही 6.26.1
30 वही 6.29.2
31 यजुर्वेद 22.16
32 वही 22.16

शतपथ ब्राह्मण में भी कुछ ऐसे सन्दर्भ आये हैं, जिनसे दूत की उपयोगिता का ज्ञान होता है। एक सन्दर्भ में कहा गया है कि देवता और असुर दोनों ही प्रजापति की सन्तान है। दोनों ही अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने का प्रयास करते रहते थे। दोनों के मध्य पृथ्वी गायत्री के रूप में उपस्थित हुई। दोनों को ज्ञात था कि पृथ्वी जिसके पक्ष में होगी, विजय उसी की होगी। पृथ्वी को वश में करने के लिए दोनों ने अपने-अपने दूत भेजे। देवों का दूत अग्नि हुआ और सहराक्षस असुरों का दूत। अग्नि अपने कार्य में सफल हुआ। अतः पृथ्वी देवों के पक्ष में आ गई और देव विजयी हुए।[33]

शतपथ ब्राह्मण के दूसरे सन्दर्भ में कहा गया है कि देवों और असुरों ने वाणी (वाक्) की उपेक्षा की और उसे यज्ञ में भाग नहीं दिया। वाणी ने क्रुद्ध होकर सिंहनी का रूप धारण किया और देवों तथा राक्षसों को पकड़कर मारना शुरू किया। भयभीत होकर दोनों ने वाणी के पास अपने दूत भेजे। देवों का दूत अग्नि हुआ और राक्षसों का सहराक्षस अग्नि अपने कार्य में सफल हुआ और वह वाणी को समझाकर देवों के पक्ष में कर सका।[34]

इससे यह ज्ञात होता है कि किसी राजा की सफलता सुयोग्य दूत पर निर्भर होती है। कुशल दूत असाध्य कार्यों को भी साध्य एवं सुकर बना देता है।

तैत्तिरीय संहिता में दूत का एक भेद प्रहित माना है।[35] सायण ने दूत और प्रहित का अन्तर किया है। दूत परवृत्तान्त ज्ञापन-दक्ष अर्थात् राजा आदि का सन्देश दूसरे तक पहुँचाने में दक्ष होता है। प्रहित केवल सन्देश वाहक होता है।

मनु, शुक्राचार्य और कामन्दक आदि ने दूत कार्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है। दूत या राजदूत की योग्यता के विषय में मनु का कथन है कि वह बहुश्रुत आकार तथा चेष्टाओं के विकार से हृदयस्थ भावों को पकड़ने वाला, स्मृतिमान्, दर्शनीय, दक्ष, सत्कुलीन, राजभक्त, देश-काल का ज्ञाता, पवित्र आचरण वाला, वाग्मी, निर्भय, राजा का भक्त, और समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए।[36] कामन्दक ने दूत के गुण बताए है- निर्भय होकर बोलने वाला, स्मरण शक्ति युक्त, वाग्मी, शस्त्र और शास्त्र दोनों में निपुण अनुभवी व्यक्ति ही दूत हो सकता है।[37] दूत की योग्यता के विषय में कामन्दक का कथन है कि अनुक्त बातों को भी अपनी बुद्धि से भाँप लेने वाला, आकृति से बातों को जानने वाला, स्मरणशील, मृदुभाषी, शीघ्र काम करने वाला, कठिन श्रम करने का अभ्यासी, चतुर और

---

33 शतपथ ब्राह्मण 1.4.1.34

34 वही 3.5.1. 21-22

35 तैत्तिरीय संहिता 4.5.7

36 मनुस्मृति 7.63, 64

37 कामन्दक 13.2

प्रत्युत्पन्नमति होना चाहिए।[38]

रामायण में दूत की योग्यता का विवेचन किया गया है कि दूत को राज्य का नागरिक, सज्जन और प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिए। उसे राजा का सन्देश ज्यों का त्यों प्रेषित करना चाहिए।[39] रामायण में दूतों के तीन प्रकार बताए गये हैं- पुरुषोत्तम, मध्यमनर और पुरुषाधम।[40] दूत चाहे साधु हो या असाधु वह तो दूसरे का भेजा हुआ एवं दूसरे की बात कहने वाला होता है। इसलिए दूत का वध सर्वदा निषिद्ध है।[41] राम-दूत हनुमान् ने लंका में पहुँचकर बहुत उत्पात मचाया, यहाँ तक कि उन्होंने रावण के एक पुत्र की हत्या भी कर दी। तब क्रोध में जल रहे रावण ने हनुमान् का वध करने की आज्ञा दी। परन्तु वहाँ उपस्थित नीतिज्ञ विभीषण ने निर्भीक होकर कहा- दूत का वध कदापि नही करना चाहिए। क्योंकि सभी स्थलों और सभी कालों में दूत अवध्य होता है।

कदाचित् कोई दूत ऐसा महान् अपराध कर भी बैठता है जो वैधानिक दृष्टि से क्षम्य नहीं होता है तब भी उसके लिए अन्य प्रकार के दण्ड है जैसे किसी अंग को भंग या विकृत कर देना, कोड़े से पिटवाना, सिर मुंड़वा देना तथा शरीर में कोई चिह्न दाग देना- ये ही दण्ड़ दूत के लिए उचित बताए गए है। उसके लिए वध का दण्ड़ तो कभी नहीं सुना है।[42] दूत सदा पराधीन होता है, अत: वह वध के योग्य नहीं होता है।[43]

महाभारत में भी दूत को अवध्य कहा गया है। क्षात्रधर्मरत जो राजा सत्यवादी दूत का वध करता है उसके पितर भ्रूण-हत्या के भागी होते हैं।[44] महाभारत में दूत के गुणों का कथन है कि दूत निर्भीक, स्मरण शक्तिमान्, वाग्मी, शस्त्र और शास्त्र दोनों के प्रयोग में निष्णात, अनुभवी दर्शनीय और देश-काल का ज्ञाता होना चाहिए।[45]

आचार्य कौटिल्य ने राजदूत को राजा का मुख माना है।[46] राजा का मुख उसको इसलिए कहा गया है कि अपने राष्ट्र में राजा जैसी व्यवस्था और नीति-नियम निर्धारित करता है, पर राष्ट्र में राजा का वही कार्य राजदूत करता है। पर राष्ट्र सम्बंधी-कार्यो में वह राजा का प्रतिनिधि माना जाता है। राजदूत को कैसा होना चाहिए, शत्रु देश में किस ढंग से प्रस्थान करना चाहिए और उनके आचार-व्यवहार के क्या तरीके होने चाहिए इस पर कौटिल्य ने बड़ी बारीकी से विचार किया है।

38 वही 13.26
39 रामायण अयोध्या काण्ड 100.35
40 वही युद्ध काण्ड 1.8.10
41 वही सुन्दर काण्ड 52.13
42 वही 52.15
43 वही 52.21
44 महाभारत शन्तिपर्व 85.26
45 वही 85.28
46 कौटिल्यार्थ शास्त्र पृ0 60

दूत के गुणों के सम्बन्ध में कौटिल्य का कथन है कि वह अपने देश में उत्पन्न, कुलीन उत्तम बन्धुओं से युक्त, शिल्प-ज्ञाता, चक्षुष्मान्, प्राज्ञ, स्मृतिमान्, चतुर, वाग्पटु, प्रतीकार करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावयुक्त, क्लेशों को सह सकने वाला, पवित्र, मित्रता के अनुकूल, दृढ़ भक्ति वाला, शील-बल आरोग्य एवं शक्ति-सम्पन्न, अभिमान और चचंलता से रहित, सुन्दर आकृति वाला, शुत्रता न करने वाला हो। अमात्य इन सभी गुणों से युक्त होता है।[47] गुणों के आधार पर कौटिल्य ने दूतों की तीन श्रेणियाँ बताई है- 1. निसृष्टार्थ, 2. परिमितार्थ और 3. शासनहर। निसृष्टार्थ- उच्च श्रेणी का दूत होता था। उसे अमात्य स्तर के अधिकार प्राप्त थे। वह उपर्युक्त सम्पूर्ण गुण सम्पन्न होता था। उसके कार्य थे- राजा का सन्देश ले जाना, अन्य राजा का सन्देश लाना, राजा की ओर से सन्धि-विग्रह की बाते करना। वह एक तरह से सर्वाधिकार प्राप्र दूत होता था। वह किसी विशेष उद्देश्य के लिए भेजा जाता था। परिमित+अर्थ अर्थात् सीमित उद्देश्य की पूर्ति करना उसका कार्य होता था। शासनहर दूत सामान्य दूत होता था। उसमें आधे गुण होते थे आधे गुण नही होते थे। उसका कार्य राजा का केवल सन्देश पहुँचाना आदि था।[48]

दूत को जब शत्रु देश में भेजा जाय तो उसके साथ पालकी, घोड़ा या प्रचलित सवारी एवं वाहन, अनेक भृत्य तथा आवश्यकता की सभी वस्तुएँ राजा को भेजनी चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह भूमिगत जीवन भी यापन कर सके। उसे शत्रु देश में किसी वस्तु को खरीदने की तुरन्त आवश्यकता न रहे। दूत को शत्रु देश में जाते समय यह सब सोच विचार कर रखना चाहिए कि मुझे अपने स्वामी के आदेश को किस प्रकार कहना है, शत्रु पक्ष इसका क्या उत्तर देगा और मेरा उसका क्या उत्तर होगा। वह आटविक (अरण्याधिकारी), अन्तपाल (सीमा रक्षक) एवं नगर और राष्ट्र के प्रधान व्यक्तियों से मित्रता करे। अपनी और शत्रु की सेना के ठहरने के स्थान, युद्ध-योग्य स्थान एवं अवसरानुकूल सेना के भागने योग्य स्थानों का निरीक्षण करे। जहाँ समय पड़ने पर सेना भाग कर आश्रय ले सके। दूत शत्रु देश के दुर्गो की संख्या, उनके आकार-प्रकार, राष्ट्र की सीमाओं, सभी लोगों की आजीविका के उपाय, उनकी आर्थिक स्थिति, देश की रक्षा के उपायों एवं शत्रुओं की और उनके देश की बुराईयों का अच्छी तरह से पता लगावें।[49] दूसरे देश में राजाज्ञा प्राप्त करके ही प्रवेश करना चाहिए। प्राणों का नाश दिखाई देने पर भी राजाज्ञा को जैसी कही गई थी वैसी ही कहे। शत्रु की वाणी में मुख में ओर दृष्टि में प्रसन्नता, कथन (दूत की बातों) के प्रति सत्कार की भावना अभीष्ट प्रश्नों का पूछना अथवा इच्छानुसार प्रश्नों का पूछना, गुणों के कहने पर उन्हें ध्यान पूर्वक सुनना, समीपवर्ती आसन प्रदान करना, सत्कार करना, इष्ट कार्यों को करते समय स्मरण करना एवं दौत्यकर्म

47 वही पृ0 28
48 कौटिल्यार्थ पृ0 59
49 वही 16 अध्याय 11 प्रकरण 5.9

में विश्वास करना देखें तो उसे सन्तुष्ट समझना चाहिए। इसके विपरीत को असन्तुष्ट समझना चाहिए।[50]

दूत राजा का प्रतिनिधि होता है, अतः उसे पूर्ण सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए। किसी भी स्थिति में उसका वध नही होना चाहिए। दूत को अवध्य कहा गया है।[51] दूत किसी भी वर्ण का हो, वह अवध्य है। 'दूसरे का यह कथन है' यह दुहराना ही दूत का धर्म है। जब तक आज्ञा न मिले शत्रु राज्य में ही रहे तथा आदर-सत्कार से गर्व न करे। शत्रुओं के मध्य अपने को बलवान् न माने। शत्रुओं के मध्य रहते अनिष्ट वचनों को भी सहन कर ले। स्त्रियों (का सहवास) एवं मद्यपान का परित्याग करे। अकेला ही शयन करे।[52] क्योंकि सोते समय व्यक्ति स्वप्नावस्था में अपने विचार किये गये भावों को भी प्रकट कर सकता है तथा मदिरा पान करके व्यक्ति पागल-सा हो जाता है और अपनी सारी बातों को कह देता है। अतः दूतों को कभी किसी के साथ नही सोना चाहिए।

कृत्यपक्ष (क्रुद्ध, लुब्ध, भीत एवं तिरस्कृत व्यक्ति) का (शत्रु राजा से) भेद, अकृत्यपक्ष में तीक्ष्ण, रसद आदि गुप्तचरों का प्रयोग, राजा के प्रति प्रकृतियों (अमात्य, पुरोहित, सेनापति आदि) का अनुराग अथवा द्वेष और राजा के द्वेष एवं दोष को दूत तापस एवं वैदेहक नामक गुप्तचरों के माध्यम से जाने। अथवा उन दोनों (तापस और वैदेहक) के शिष्यों द्वारा, चिकित्सक एवं पाखण्डी के वेश में रहने वाले गुप्तचरों द्वारा तथा उभय वेतनभोगी (स्वपक्ष और शत्रुपक्ष दोनों से वेतन पाने वाले) गुप्तचरों से जानकारी प्राप्त करे। उनके साथ बात-चीत न होने पर भिखारी, पागल (मदिरादि से) उन्मत्त एवं सोते हुए व्यक्तियों के प्रलापों को जाने। पुण्य स्थल, मन्दिर, चित्र एवं अन्य लिखित संकेतों द्वारा समाचार का पता लगावे। समाचारों के प्राप्त हो जाने पर भेद रूप उपायों का प्रयोग करे।[53]

शत्रु द्वारा पूछे जाने पर अपनी प्रकृतियों (अमात्य, सेनापति आदि) का परिमाण न बतावे। अपितु आप सब कुछ जानते हैं- ऐसा कहे। इतने पर प्रसन्न न हो तो कार्य सिद्धि करने वाली संख्या को ही बतावे। कार्य सिद्ध हो जाने पर यदि शत्रु राजा रोके तो पुनः विचार करना चाहिए कि यह राजा मुझे क्यों अपने देश में जाने नही दे रहा है। क्या इसने मेरे स्वामी से आने वाली विपत्ति को देख लिया है। अथवा किसी आपत्ति का प्रतिकार करना चाहता है। अथवा पार्ष्णिग्राह (शत्रु राजा का मित्र) एवं आसार (पाष्णिग्राह का मित्र राजा) उकसाना चाहता है या आटविक को लड़ने के लिए तैयार करना चाहता है। अथवा मित्र राजा को या आक्रन्द राजा (पिछले प्रदेश का मित्र राजा) को मार डालना चाहता है। अथवा दूसरे से अपने ऊपर किये गये आक्रमण का, अपने अन्तः कोप (अमात्य, सेनापति आदि के क्रोध) का या आटविक का प्रतिकार करना चाहता है। अथवा मेरे स्वामी की युद्ध

50 वही 16.11.10-14
51 वही 16.11.18
52 वही 16.11.19-24
53 वही 16.11.26-30

यात्रा का समय हो चुका है, उसमें यह रुकावट डालना चाहता है। अथवा धान्य, कुप्य (स्वर्ण-रजत से भिन्न धातुएँ) एवं अन्य वस्तुओं का संग्रह, किला का निर्माण या सेना का उत्थान करना चाहता है। अथवा अपनी सेना की शिक्षा एवं उचित देश-काल की आकांक्षा कर रहा है। अथवा तिरस्कार या प्रीति के कारण (मुझे रोक रहा है) अथवा विवाह आदि सम्बन्ध की इच्छा से या किसी दोष के कारण मुझे रोक रहा है।[54]

रोकने के कारण को जानकर दूत वहाँ पर निवास करे अथवा वहाँ से भाग जाए तथा रहकर गुप्तचरों के माध्यम से वहाँ के समाचारों को राजा तक पहुँचाये। अभीष्ट राजाज्ञा को कहकर दूत अपने बन्धन या वध के भय से आने की आज्ञा न मिलने पर भी वापिस चला आना चाहिए ऐसा न करने पर वह पकड़ा जाता है।

दूत के कुछ प्रमुख कर्त्तव्य ये हैं- परराष्ट्र में राजा की ओर से सन्धि और विग्रह की बात करना, परराष्ट्र में राजा का सन्देश पहुँचाना और दूसरे राजा का सन्देश अपने राजा तक पहुँचाना, प्रताप का प्रदर्शन करना, परदेश में भी अपने मित्र बनाना, शत्रुपक्ष के कार्य कर्त्ताओं में फूट डालना, शत्रु पक्ष की आन्तरिक न्यूनताओं को और रहस्यों को जानना और अपने राजा तक पहुँचाना, परदेश में अपने गुप्तचरों के क्रिया-कलापों का निरीक्षण करना, अपने राजा की विजय के लिए परदेश में अनुकूल स्थिति बनाना दूसरों के कटु वचनों को भी सहन करना, शत्रु के बान्धवों तथा रत्नों का अपहरण करना, गुप्तचरों अथवा समाचारों की जानकारी रखना, पराक्रम का प्रदर्शन करना, जमानत रूप में रखे हुए राजकुमार को छुड़ाना, योग (मारण, मोहन उच्चाटन आदि) का प्रयोग करना आदि।[55]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि दूत कुलीन, शुद्ध आचार-विचार सम्पन्न, विद्वत्ता आदि में अत्युत्कृष्ट, हृष्ट-पुष्ट, गम्भीर प्रसन्नचित, जन हितैषी, न्यायप्रिय, यथोक्तवादी, क्षिप्रकारी, आलस्यहीन, निर्भीक और मृदुभाषी होता है और राजा को चाहिए कि वह उपर्युक्त सभी दूत कर्म अपने दूत द्वारा करवाये। शत्रु के दूतों के पीछे अपने दूत एवं गुप्तचरों को लगाये रखे और अपने देश में तो शत्रु के कार्यों का पता लगाकर शत्रु के षड्यन्त्रों को कामयाब न होने दे तथा रक्षकों के माध्यम से अपनी रक्षा करें। इस प्रकार का आचारण करने वाला राजा अवश्य ही शत्रुओं से पराजय नही पा सकता है।

डॉ0 उमा जैन
रीडर संस्कृत-विभाग
मु0 ला0 एण्ड जय0ना0 खेमका गर्ल्स
(पी0जी0) कॉलिज सहारनपुर

—

54 वही 16.11.31-44
55 वही 16.11.49.50

पीयूषवर्ष जयदेव

संस्कृत साहित्य के काव्याकाश को अनेक आलंकारिकों एवं काव्यकारों की विमल कृतिरूपी नक्षत्रमालाओं से विभूषित होने का गौरव प्राप्त है। इस साहित्य की एक अनुपम विभूति पीयूषवर्ष जयदेव भी हैं जो आलंकारिक तथा महाकवि दोनों की प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए है। इनका अलंकारग्रन्थ चन्द्रालोक तथा काव्यग्रन्थ प्रसन्नराघव नाटक संस्कृत की विद्वन्मण्डली में सुप्रसिद्ध है।

संस्कृत में काव्य रचना करने वाले जयदेव नाम के कई लेखक हो चुके हैं। जर्मन विद्वान् ऑफ्रक्ट ने जयदेव नामक 15 लेखकों का उल्लेख किया है[1], जिनमें गीतगोविन्दकार जयदेव, पक्षधर जयदेव तथा पीयूषवर्ष जयदेव प्रमुख हैं। संस्कृत साहित्य में गीतगोविन्दकार जयदेव अतिशय प्रख्यात हैं, किन्तु वे तथा पीयूषवर्ष जयदेव एक नहीं हो सकते, क्योंकि गीतगोविन्दकार भोजदेव और रामदेवी के पुत्र हैं, जबकि पीयूषवर्ष के माता पिता का नाम सुमित्रा और महादेव हैं।[2] इस हेतु से श्रीयुत काणे, सुशीलकुमार दे प्रभृति प्रायः सभी विद्वानों ने इन्हें भिन्न ही माना है, यद्यपि कोई कोई विद्वान् इन्हें एक सिद्ध करने का भी प्रयत्न करते हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी काव्यप्रकाश-टीका की भूमिका में गीतगोविन्द के माता-पिता के उल्लेख वाले श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हुए दोनों को एक सिद्ध करने का यत्न किया है।[3] पर इनके तर्क अकाट्य नहीं हैं।

दूसरे जयदेव, जिनसे पीयूषवर्ष की अभिन्नता कही जाती है, पक्षधर मिश्र जयदेव हैं। इसके समर्थन में यह युक्ति दी जाती है कि प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में कवि ने अपने आपको प्रमाणप्रवीण कहा है और नट के मुख से यह कहलाया है कि इस कवि में चन्द्रिका और चण्डातप के समान कविता और तार्किकता की एकाधिकरणता को देखकर में विस्मित हूँ।[4] इनके विषय में जनश्रुति के अनुसार एक पद्य भी प्रचलित है, जिसमें इन्हें काव्य तथा तर्कशास्त्र दोनों का पण्डित कहा गया है।[5] पक्षधर मिश्र भी परम तार्किक हैं और उन्होंने गंगेशोपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ पर मण्यालोक नाम से भाष्य लिखा है। इस आधार से दोनों एक होने चाहिये। मैथिल पण्डित महामहोपाध्याय, परमेश्वर झा ने अपने मिथिलातत्त्वविमर्श नामक ग्रन्थ में इन दोनों को एक ही माना है तथा वे इनकी चार रचनायें

1. कैटलागोरस कैटलागोरम भाग 1,1962, पृ0 199-200
2. श्रीभोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुतरीजयदेवकस्य। गी0 12.4.5 महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः। सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।। च0 1.6
3. विश्वेश्वरः काव्यप्रकाश-टीका, ज्ञानमण्डल वाराणसी, 2017 वि0, भूमिका पृ0 83
4. नन्वयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते। तदिह चन्द्रिकाचण्डातपयोरिव कवितातार्किकत्वयोरकाधि- करणतामालोक्य विस्मितोऽस्मि। प्र0, पृ0 26
5. काव्येऽपि कोमलधियो वयमेव नान्ये, तर्केऽपि कर्कशधियो वयमेव नान्ये। तन्त्रेऽपि यन्त्रितधियो वयमेव नान्ये, कृष्णेऽपि सङ्गतधियो वयमेव नान्ये।।

बताते हैं- 1.मण्यालोक, 2. चन्द्रालोक, 3. सीताविहार, 4. प्रसन्नराघव नाटक।[6] डॉ. काणे भी दोनों को एक ही स्वीकार करते हैं।[7] परन्तु डॉ0 दे इनकी एकता में तीव्र सन्देह व्यक्त करते हैं।[8] श्री वटुकनाथ शर्मा भी एकता के मत का विरोध करते हुए इन दोनों को भिन्न ही लिखते हैं। उनका कथन है कि पीयूषवर्ष प्रमाणप्रवीण थे, इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे तार्किक पक्षधर जयदेव ही थे, जब तक कि कोई अन्य प्रबल प्रमाण प्राप्त न हो।[9]

पीयूषवर्ष की रचनाएं

पीयूषवर्ष जयदेव की दो रचनायें उपलब्ध होती है- 1. चन्द्रालोक, 2. प्रसन्नराघव नाटक। ये दोनों कृतियाँ एक ही जयदेव की है इसमें निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती है-

1.दोनों ही ग्रन्थों में लेखक के पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा लिखा है, प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में तथा चन्द्रालोक के प्रत्येक मयूख के अन्तिम श्लोक में यह समानता आकस्मिक नहीं हो सकती।

प्रसन्न0 कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः।। 1.14
लक्ष्मणस्येव यस्याऽस्य सुमित्राकुक्षिजन्मनः।
रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृंगायते मनः।। 1.15

चन्द्रा0 महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः।। 1.16

2. दोनों ही ग्रन्थों के कवि शिव तथा विष्णु के उपासक है तथा इनमें अद्वैत मानते हैं। प्रसन्नराघव के मंगलाचरण में विष्णु की स्तुति है तथा चन्द्रालोक के मांगलिक पद्य में शिवजी की नेत्रत्रितयी का उल्लेख है, इससे यह सन्देह हो सकता है कि प्रसन्नराघवकार विष्णु के तथा चन्द्रालोककार शिव के उपासक होने से परस्पर भिन्न हैं। पर वस्तुतः इसका कारण यह है कि ये विष्णु और शिव में अभेद मानते हैं। प्रसन्नराघव के भरतवाक्य में यही

6. मिथिलातत्त्वविमर्श, 1949, पृ0 203.206
7. काणे: संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, 1966, पृ0 362
8. दे: हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स, खण्ड 1, 1960, पृ0 197
9. द्रष्टव्य : चन्द्रालोक गागाभट्ट टीका, चौखम्बा, 1955 वि0 के प्रारम्भ में बटुकनाथ शर्मा का लेख पीयूषवर्षो जयदेव : पृ0 9

याचना की गई है कि विष्णु तथा शिव में सबकी अद्वैतमति विलसित होती रहे।[10] साथ ही जहाँ मंगलाचरण में विष्णु की आराधना है वहाँ उसके तुरन्त पश्चात् ही भगवान् शंकर की यात्रा का भी उल्लेख है।[11] इसी प्रकार चन्द्रालोक में यद्यपि मंगलश्लोक में शिव का उल्लेख है, तथापि आगे विभिन्न लक्षणों के उदाहरण देते हुए शिव तथा विष्णु दोनों को ही स्मरण किया है।

शिव केतकी शेखरे शम्भोर्धत्ते चन्द्रकलातुलाम्। च0 2.35
दधार गौरी हृदये देवं हिमकराङ्कितम् च0 2.44
जितोऽसि मन्द कन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचन:। च0 5.38
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु व: शिव:। च0 5.39
सारं सारस्वतं तत्र काव्यं तत्र शिवस्तव:। च0 5.90

विष्णु मुधा निन्दन्ति संसारं कंसारिर्यत्र पूज्यते। च0 3.2
चतुर्णा पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुज:। च0 5.40
चन्दनं खलु गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनम्। च0 5.6
श्रितोऽस्मि चरणौ विष्णोर्भृङ्गस्तामरसं यथा। च0 5.16
त्वद्भक्त: कृष्ण गच्छेयं नरकं स्वर्गमेव वा। च0 2.32

प्रसन्नराघव में विशेषत: विष्णु का मंगलाचरण कवि ने इस हेतु से किया है क्योंकि उसमें कथा ही विष्णु के अवतार राम की है। इसी प्रकार चन्द्रालोक में शिव का स्मरण इस कारण उपयुक्त है, यत: चन्द्रालोक शिव का शिरोभूषण है।

3. दोनों ही ग्रन्थों के कवियों में राम तथा रामायण के प्रति परम भक्ति है। प्रसन्नराघव में तो रामयण की कथा ही निबद्ध है, पर चन्द्रालोक में भी कतिपय उदाहरण रामकथा सम्बन्धी पाये जाते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि चन्द्रालोककर्ता के मन में भी रामचरित के प्रति उत्कट प्रीति है। उदाहरणार्थ निम्न पद्यांश द्रष्टव्य है-

चन्द्रा0 हनूमानब्धिमतरद् दुष्करं किं महात्मनाम्। 5.68
हर सीतां सुखं किं तु चिन्तायान्तकढौकनम्। 5.73
अजरामरता कस्य नायोध्येव पुरी प्रिया। 5.64
येन बद्धोऽम्बुधिर्यस्य रामस्यानुचरा वयम्। 2.23
न मामंगद जानासि रावणं रणदारुणम्। 2.15

4. दोनों ग्रन्थों के भाव एवं भाषा में भी क्वचित् साम्य पाया जाता है। यथा-

10. देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटेऽद्वैता मति: खेलतु। प्र0 7.94
11. भगवत: शंकरस्य यात्रायां परिमिलिता एवं पारिषदा:। प्र0, पृ0 7

चन्द्रा0 दृष्टं चेद् वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना। 5.100

प्रसन्न0 राजीव जीवसि सुधा न सुधाकर त्वम्।

अस्याः समः पदनखस्य कुतो मुखस्य।। 1.16

चन्द्रा0 असावुदेति शीतांशुमनिच्छेदाय सुभ्रुवाम्। 3.10

प्रसन्न0 मृगदृशां मानं समुन्मीलयन् ....इन्दुः समुज्जृम्भते। 7.60

चन्द्रा0 इन्दुर्यदि कथं तीव्रः सूर्यो यदि कथं निशि। 3.3

प्रसन्न0 चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति। 6.1

चन्द्रा0 त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनो :।5.14

प्रसन्न0 वहत्यस्या दृष्टिर्विकचनवनीलोत्पलतुलाम्। 2.16

चन्द्रा0 नायं सुधांशुः किं तर्हि व्योमगङ्गासरोरुहम्। 5.24

प्रसन्न0 त्रिपुरहरशिरः स्वःस्रवन्तीमृणालं ......खण्डमिन्दोः। 2.35

रचनाओं का पौर्वापर्यः

चन्द्रालोक और प्रसन्नराघव में से कवि ने पहले किसकी रचना की, यह निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है। कवि ने अपने आपको पीयूषवर्ष चन्द्रालोक में कहा है[12]'' किन्तु प्रसन्नराघव में नहीं। चन्द्रालोक में यह स्वयं को सूक्तिपीयूषवर्ष भी कहता है[13]'' प्रसन्नराघव में पीयूषवर्ष नाम न मिलने का कारण यही प्रतीत होता है कि उसकी रचना से पूर्व कवि इस नाम से प्रख्यात नहीं हुआ था। इस नाटक की मधुर सूक्तियों से चमत्कृत होकर ही सहृदय समाज ने इन्हें पीयूषवर्ष या सूक्तिपीयूष वर्ष उपनाम से विभूषित कर दिया होगा। चन्द्रालोक में जयदेव स्वयं को सुकवि भी कहते हैं। अतः इससे पूर्व इनकी कोई रचना अवश्य होनी चाहिए, जिसके कारण इन्हें सुकवि कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ होगा। वह रचना प्रसन्नराघव ही हो सकती है। इस युक्ति से प्रसन्नराघव ही इनकी प्रथम रचना प्रतीत होती है। यदि प्रसन्नराघव से पूर्व ये चन्द्रालोक की रचना कर चुके होते तो प्रस्तावना में कवि परिचय में उसका उल्लेख अवश्य करते। ऐसा न होने से भी उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि होती है। प्रसन्नराघव में इन्होंने पीयूषवृष्टि की है, जो कुरङ्गाक्षी के अधरबिम्ब को भी अधर कर देने वाली है-

विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दधुरः। कुरंगाक्षीबिम्बाधरमधर[14] भावं गमयति।। प्र0 1.14

प्रसन्नराघव में एक स्थान पर 'चन्द्रालोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। षष्ठ अंक में रत्नशेखर द्वारा प्रदर्शित इन्द्रजाल में राम सीता की कण्ठध्वनि सुनकर उसे तुरन्त पहचान लेते

12. चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती। च0 1.2, पीयूषवर्षप्रभवं चन्द्रलोकं मनोहरम्।। वही 10.5

13. सूक्तिपीयूषवर्षस्य जयदेवकवेर्गिरः। वही 10.6

14. पाठान्तर : मधुरभावं।

हैं, पर सीता उन्हें दिखाई नहीं देती। तब वे कहते हैं- तत्कथमयमदृष्टचन्द्रलेखश्चन्द्रालोक:। अरे यह तो ऐसा चन्द्रालोक है जिसमें चन्द्रमा की कला दिखाई नहीं दे रही। इस निदर्शना के द्वारा कवि ने यह प्रकट किया है कि सीता के दृष्टिगोचर हुए विना उसकी ध्वनि सुनाई देना ऐसा ही है, जैसे चन्द्रकला के दिखाई दिये विना चन्द्रालोक का होना। यहाँ चन्द्रालोक शब्द को देखकर यह कल्पना हो सकती है कि चन्द्रालोक की रचना प्रसन्नराघव से पूर्व हो चुकी होगी। पर वस्तुत: यहाँ चन्द्रालोक शब्द का प्रयोग आकस्मिक ही है, यह ग्रन्थ के नाम को सूचित नही करता।

पीयूषवर्ष का काल:

पीयूषवर्ष ने अपनी रचनाओं में कहीं अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। प्रसन्नराघव में इन्होंने अपने से पूर्ववर्ती भास, कालिदास, चोर, मयूर, हर्ष तथा बाण कवियों का नामकीर्तन किया है। परन्तु ये सब कवि बहुत प्राचीन है, अत: इनसे पीयूषवर्ष के काल पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। इनसे उल्लिखित हर्ष कवि रत्नावलीकार हर्ष ही प्रतीत होते हैं। यदि ये नैषधकार श्री हर्ष हों, तो भी यह सन्देहकोटि में होने से निर्णायकतत्त्व नहीं बन सकता। चन्द्रालोक में इन्होंने किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है। हाँ, नामोल्लेख के विना ही मम्मट के काव्यलक्षण पर कटाक्ष अवश्य किया है। मम्मट ने अपने काव्य की परिभाषा में ''अनलंकृती पुन: क्वापि[15]'' कहकर क्वचित् स्फुटालंकाररहित भी शब्दार्थ को काव्य स्वीकार किया था। इस पर इन्होंने कहा कि अलंकाररहित शब्दार्थ को काव्य मानना ऐसा ही हास्यास्पद है, जैसा अग्नि को अनुष्ण कहना-

अंगीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।

असौ न मन्यते कस्मावनुष्णनमलंकृती।। च0 1.8

अत: ये मम्मट के काल 11 वीं शती से पूर्व नहीं हो सकते। ये अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक से भी परवर्ती है, क्योंकि इन्होनें अपने चन्द्रालोक में कई अलंकारों के लक्षण रुय्यक के अनुसार लिखे हैं यथा-

उपमेयोपमा	द्वयो: पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा। अ0स0 13
	पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता। च0 5.13
परिकर	विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकर:। अ0स0 32
	अलंकार: परिकर: साभिप्राये विशेषणे। च0 5.39
दीपक	प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु (समानधर्माभिसम्बन्धे) दीपकम्। अ0स024
	प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम्। च0 5.53
दृष्टान्त	तस्यापि बिबप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्त:। अ0स0 26

15. का0 प्र0 1.4

	चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः। च0 5.26
विकल्प	तुल्यबलविरोधो विकल्पः अ0स0 64
	विकल्पस्तुल्यबलयोविरोधाश्चातुरीयुतः। च0 5.96
समाधि	कारणन्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। अ0स0 68
	समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः। च0 5.98

इनमें से विचित्र और विकल्प अलंकार तो रुय्यक के ही आविष्कृत है। अतः पीयूषवर्षकृत इनके लक्षणों पर स्पष्टतः रुय्यक का ही प्रभाव है। शेष अलंकारों के लक्षण भी पूर्ववर्ती इतर आचायों के लक्षणों की अपेक्षा रुय्यक के लक्षणों से ही अधिक साम्य रखते हैं। रुय्यक का काल 12 वीं शती का मध्य है। एवं 12 वीं शती का मध्य पीयूषवर्ष के काल की पूर्वसीमा निश्चित हो जाती है।

चतुर्दश शती के आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसंक्रमितध्वनि के उदाहरण में प्रसन्नराघव का एक श्लोक 'कदली कदली करभः करभः[16]'' आदि दिया है। शार्ङ्गधरपद्धति में भी प्रसन्नराघव के कतिपय श्लोक उद्धृत किये गये हैं[17]'' जो 1363 ई0 की रचना है, इससे भी पूर्व के 1330 ई0 में स्थित शिंगभूपाल ने भी अपने रसार्णवसुधाकर में प्रसन्नराघव के उद्धरण दिये हैं एवं पीयूषवर्ष के काल की अन्तिम सीमा 1330 ई0 स्वीकार करनी होगी। कोई कवि उसी कवि की कृति में से अपने ग्रन्थ में उद्धरण देता है, जो अपनी काव्यकला में प्रख्यात हो चुकता है। कुछ समय ख्याति प्राप्त करने में भी लगता है। अतः चदुर्दशशती के जिन उपर्युक्त लेखकों ने अपने ग्रन्थों में प्रसन्नराघव के उद्धरण दिये हैं, उनसे कुछ पूर्व ही पीयूषवर्ष का काल होना चाहिए। इस दृष्टि से इनका काल 13वीं शती का पूर्वार्ध माना जा सकता है।[18]

डॉ0 दे ने इस बात का संकेत किया है कि परांजपे प्रसन्नराघव नाटक के पूना-संस्करण (1894) में पीयूषवर्ष तथा पक्षघर मिश्र को एक मानकर इनका काल 1500 से 1577 ई0 के मध्य में मानते हैं। ऐसा ही पीटर्सन तथा ऐगलिंग का भी मत है। परन्तु डॉ0 दे इनसे सहमत नहीं हो सके हैं[19]। पण्डित परमेश्वर झा भी पीयूषवर्ष को पक्षधर मिश्र से अभिन्न मानते हैं तथा इनका काल 1454 ई0 स्वीकार करते हैं। इनका कथन है[20] कि पक्षधर मिश्र ने एक विष्णुपुराण पुस्तक ताडपत्रों पर लिखी थी, जिसके अन्त में उन्होंने एक

16. प्र0 1.37
17. द्रष्टव्यः प्र0 1.9 तथा शार्ङ्ग0 164, प्र. 1.33 तथा शा र्ङ्ग 3520, प्र. 2, 22 तथा शार्ङ्ग 3557, प्र0 7. 59 तथा शार्ङ्ग0 3626, प्र0 7.60 तथा शार्ङ्ग0 3631
18. द्रष्टव्यः काणेः संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास 1966 पृ. 362
19. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स खण्ड 1, 1960, पृ0 198
20. मिथिलातत्त्वविमर्श, 1949, पृ0 201

श्लोक[21] लिखा है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि यह हस्तलेख लक्ष्मणसंवत्सर 345 अर्थात् 1454 ई0 में लिखा गया था। परन्तु वे कथन क्योंकि पीयूषवर्ष और पक्षधर जयदेव की अभिन्नता पर आधारित है, अत: प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।

निवास-स्थान

पीयूषवर्ष किस प्रदेश के निवासी थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इन्होंने अपनी दोनों में से किसी भी कृति में निवास-स्थान का उल्लेख नहीं किया है। प्रसन्नराघव में यह अपने आपको कौण्डिन्य कहते हैं[22] अधिकांश विद्वानों ने कौण्डिल्य का अर्थ कुण्डिनगोत्री किया है। किन्तु कुछ विद्वान् इसका अभिप्राय विदर्भ प्रदेश के कुण्डिनपुर निवासी, यह लेते हैं। डॉ0 पीटर्सन ने 'सुभाषितावली' की भूमिका में इन्हें विदर्भ देशवासी ही लिखा है, यद्यपि ये कौण्डिन्य से कुण्डिनगोत्र ही गृहीत करते हैं। परमेश्वर झा इन्हें मिथिला निवासी मानते हैं[23] इनका कथन है कि प्रसन्नराधव का मूलपाठ कौण्डिन्य: नहीं अपितु शाण्डिल्य: था, लिपिकार के प्रमाद से शा के स्थान पर कौ लिखा जाने से कौण्डिल्य: हो गया, और फिर किसी अन्य लिपिकार ने ल् के स्थान पर न् लिखकर इसे कौण्डिन्य: बना दिया। उन्होनें युक्ति दी है कि पंजीप्रबन्ध प्रस्तक ममें जयदेव को शाण्डिल्यगोत्री ही लिखा है। परन्तु यह सब कल्पना इन्हें पीयूषवर्ष को पक्षधर से अभिन्न मानने के कारण ही करनी पड़ी है। इनका यह भी कथन है कि 'प्रस्तावना-लेख से यहस्पष्ट विदित हो जाता है कि पीयूषवर्ष विन्ध्य पर्वत से दक्षिण प्रदेश के वासी नही हो सकते, क्योंकि इन्होंने दाक्षिणत्य नट को नटापसद कहा है। विदर्भ प्रदेश भी विन्ध्याचल के दक्षिण में है। अत: यदि कवि विदर्भवासी थे तो वे भी दाक्षिणात्य हुए। अपने ही प्रदेश के वासी की वे उक्त प्रकार से निन्दा नहीं कर सकते थे।

इनके मिथिलावासी या विदर्भवासी होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। मिथिलापुरी की इन्होंने प्रशंसा अवश्य की है, परन्तु वैसी प्रशंसा दक्षिणस्थ नर्मदा और गोदावरी की भी की है और अयोध्या को भी नगरीसीमन्तमणि कहा है। अत: इनके निवास स्थान के विषय में संप्रति कोई प्रमाणित स्थापना कर सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

विश्वास और धारणाएं

पीयूषवर्ष के पिता महादेव परम याज्ञिक थे। माता सुमित्रा पतिभक्तिपरायणा एवं धर्मनिष्ठ थी। अत: धार्मिक वृत्ति इन्होंने पैतृकगुण के रूप में प्राप्त की है। ये राम के चरणचञ्चरीक हैं[24] सभी कवि राम पर ही काव्य रचना क्यों करते हैं, इसके उत्तर में यह

21. बाणैर्वेदयुतै: सशंभुनयनै: संख्यागते हायने। श्रीमद्गौडमहीभुजो गुरुदिने मार्गे च पक्षे सिते।।

22. प्र0 1.14

23. मिथिलातत्त्वविमर्श, 1949, पृ0 206-7

24. रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृंगायते मन:। प्र0 1.15

कहते हैं कि यह कवियों का दोष नहीं, अपितु उन गुणगणों का दोष है, जो राम में आकर एकत्र हो गये हैं, अत एव इनका चित्तचकोर राम में ही आनन्दित होता है।[25] राम के कीर्तिगायक होने के कारण ही महाकवि वाल्मीकि के प्रति भी इनकी अगाध श्रद्धा है।[26]

ये विष्णु और शिव के समान रूप से उपासक हैं। दोनों में अद्वैत मानते हैं तथा यह चाहते हैं कि छोटे से लेकर बड़े तक सब में यह अद्वैत बुद्धि जागृत हो। ऋषि-मुनियों के प्रति भी इनकी परम निष्ठा है। इन्हें ये अलौकिक सिद्धियों का आगार मानते हैं। याज्ञवल्क्य की महिमा से उनके शिष्य दाल्भ्यायन को भ्रमरों की वाणी समझने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। देवी मैत्रेयी भी सिद्धयोगिनी एवं काल त्रयदर्शिनी हैं। वसिष्ठ पत्नी अरुन्धती वन जाते समय सीता को ऐसा नूपुर प्रदान करती हैं, जिनकी महिमा से पति विरह न हो। अत्रि पत्नी अनसूया के दिये हुए अंगराग का यह प्रताप है कि ज्यों ही रावण सीता का स्पर्श करने लगता है, त्यों ही सहसा अग्नि जल उठती है। भारद्वाज मुनि का ऐसा प्रभाव है कि उनके आश्रम में करी केसरी, नकुल सर्प आदि प्राणी अपने विरोध को भूलकर निवास करते हैं।

योग और अध्यात्मविद्याा से भी कवि को विशेष अभिरुचि है। विश्वामित्र के योगीश्वर होने का यह बड़े गौरव के साथ वर्णन करता है। जनक के परमपुरुष में रमण करने एवं उनकी ब्रह्मविद्या का चित्रण करने में भी वह आनन्द मानता है। तपस्या के प्रति कवि के हृदय में विशेष आदर है। विश्वामित्र तपस्या की अग्नि में तपकर ही वर्णोत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। शकुनशास्त्र में भी कवि विश्वास रखता है। मन्दोदरी शकुन निरूपणार्थ अपनी परिचारिका को शबरपल्ली में भेजती है। कवि की आकांक्षा है कि आबालवृद्ध सबके मुखाम्बुजों में सरस्वती का वास हो और सज्जनों के गृहों में वाग्देवी के साथ लक्ष्मी का भी सदा विलास होता रहे।

डॉ0 विनोदचन्द्र विद्यालंकार
462, आर्यनगर, ज्वालापुर-249407

25. मम तु रामचन्द्र एव निर्भरमानन्दितोऽयं चित्तचकोरः। प्र0 पृ0 18
26. म पुनः कविकमलसद्मनि मुनौ वल्मीकजन्मनि मनः कौतुकितम्। पृ0, पृ0 16.17

औपनिषदिक द्रव्य विवेचन

उपनिषद् वाङ्मय विश्व के सर्वाधिक समादृत वाङ्मय में अन्यतम है। यद्यपि प्रत्यक्षत: उपनिषद् का प्रतिपाद्य दार्शनिक तत्त्वमीमांसा न होकर[1] जीवन की समस्याओं का क्रियात्मक समाधान प्रस्तुत करना है। पुनरपि चरम पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्ति से पूर्व व्यक्ति जिस भौतिक जगत् में रह रहा है, उसका तात्त्विक परिज्ञान अपेक्षित है। उपनिषद् का ऋषि कहता है कि-वह परमेश्वर ही सर्वज्ञ, सर्ववित् जिसका ज्ञानमय तप है, उसी से यह नामरूपात्मक जगत् प्रकट होता है।[2] उसी दिव्य, अज, अमूर्त, पुरुष से यह प्राण-जीवन, मन सभी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा सबको धारण करने वाली पृथिवी-ये सभी उत्पन्न होते हैं।[3] उक्त तथा ऐसे अन्य अनेक स्थलों पर पृथिवी आदि का वर्णन करते हैं।

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय इन छ: पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य द्वारा धर्मविशेष से होने वाले तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस् की प्राप्ति कही है।[4] उक्त छ: पदार्थों में प्रथम हैं-द्रव्य। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् (दिशा), आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं।[5] आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन ये पाँच किसी के आश्रित नहीं रहते हैं। अत: इन्हें नित्य द्रव्य कहा गया है। पृथिवी, जल तेज तथा वायु-ये चार अनित्य द्रव्य हैं। प्रशस्तपादभाष्य में पृथिवी के साथ ही, जल, तेज एवं वायु को भी परमाणुरूप में नित्य तथा कार्यरूप में अनित्य कहा गया है।[6] उक्त नौ द्रव्यों में प्रथम पाँच-पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं आकाश को पञ्चभूत भी कहते हैं।[7] बाह्य भौतिक जगत् के ये ही आधार हैं। यह जगत् और इसके सम्पूर्ण कार्य इन्हीं भूतों से उत्पन्न होने के कारण पञ्चभौतिक कहलाते हैं।

द्रव्य परिगणन क्रम में परिगणित पञ्चभूत क्रमश: स्थूल से सूक्ष्म वर्णित हैं।

1 नैषा तर्केण मतिरापनेया-कठ 1.1.9

2 य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप:। तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते।। मुण्डक।.1.9

3 दिव्यो ह्यमूर्त: पुरुष: स बाह्याभ्यन्तरोह्यज:। अप्राणो ह्यमना: शुभ्रो ह्यक्षरात्परत: पर:।। एतस्माज्जायते प्राणो मन: सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवी विश्वस्य धारिणी वही 2.1.2

4 धर्मविशेष प्रसूताद् द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसम्-वैशेषिक 1.1.4

5 पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालोदिगात्मा मन इति द्रव्याणि-वही 1.1.5

6 क-पृथिवी-सा तु द्विविधा। नित्या चानित्याच। परमाणुलक्षणा नित्या। कार्यलक्षणाा स्वनित्या। प्रशस्तपादमया-अनुवाद-डॉ0 श्रीनिवास शास्त्री-पृ0 30, का नित्या का चानित्येत्याह। परमाणुलक्षणा नित्या कार्यलक्षणा त्वनित्येति। उभयत्रापि लक्षणशब्द: स्वभावार्थ: -श्रीधर, न्यायकन्दली-पृ0 31, ख-आप:-ताश्च पूर्ववद् द्विविध: नित्यानित्यभावात्-प्रशस्तपाद-पृ0 35, ग-तेजस्-तदपि द्विविधमणुकार्यभावात्-वही-पृ0 36, घ-वायु:-स चायं द्विविधोऽणुकार्यभावात् -वही-पृ0 40

7 क-पृथिव्यपस्तेजो वायुराकाशम् इति भूतानि-न्यायसूत्र 1.1.13, ख-पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्-त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत्-1, ग-पञ्चभूतात्मको देह: पञ्चमण्डलपूरित:-वराहोपनिषत् 5.1

तद्यथा-पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश, किन्तु जगदुत्पत्ति इससे विपरीत क्रम-सूक्ष्म से स्थूलतर की ओर होती है। उपनिषदों का उत्पत्तिक्रम भी क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल की ओर दृष्टिगोचर होता है। अतः उपनिषत्क्रमानुसारी विवेचन प्रस्तुत है-

आकाश

पञ्चभूतों में आकाश सूक्ष्मतम है। आकाश विभु एवं नित्य है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। आकाश की सिद्धि परिशेषानुमान द्वारा स्वीकृत की गयी है।[8]

तैत्तिरीयोपनिषद् में 'आकाशः सम्भूतः[9] कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि-आकाश उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व सर्वत्र फैले हुए कारण रूप द्रव्य के इकट्ठा होने पर (उत्पत्ति प्रक्रिया में परमाणुओं के संक्षुभित होने पर) अवकाश-उत्पन्न सा होता है[10]। अर्थात् भूतोत्पत्ति के पूर्व परमाणु सर्वत्र बिखरे हुए से होते हैं और उत्पत्ति के समय ईश्वर के ईक्षण/सङ्कल्प/अभिध्यान मात्र से वह एकत्रित होते हैं। उन परमाणुओं के एकत्रित होने से तत्तत् भूत की उत्पत्ति होती है। उनके स्वरूप ग्रहण से वह अवकाश पृथक् प्रतीत होने लगता है। इसी को 'आकाशः सम्भूतः' कहा गया है।

वाचक्नवी गार्गी के प्रश्न कि-द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे तथा द्यु एवं पृथिवी के मध्य जो कुछ भी भूत, वर्तमान, भविष्य है, वह किस में ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य का कथन है कि वह सब आकाश में ओत-प्रोत है।[11] यह आकाश किस में ओत-प्रोत है? वह आकाश इस अक्षर[12] (परमेश्वर) में ओत-प्रोत है।

छान्दोग्य एवं नृसिंहपूर्वतापनीय के अनुसार-सभी भूतों का आश्रय आकाश है। सभी की उत्पत्ति एवं प्रलय काल में आधार भी आकाश ही है।[13] तैत्तिरीयोपनिषद् में-पृथिवी को पूर्व रूप एवं द्यौ को उत्तर रूप प्रतिपादित करते हुए आकाश को इन दोनों की सन्धि कहा है। पृथिवी एवं द्यु की सन्धि कहने से ज्ञापित होता है कि-आकाश स्थूल एवं सूक्ष्म की सन्धि-जोड़ है, कोई भी सन्धि-जोड़ अमूर्त होना ही सम्भव है। आकाश भी अमूर्त है।

8 क-परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य-वैशे. 2.1.27, ख-परिशेषाद् गुणो भूत्वा आकाशस्याधिगमे लिङ्गम्-प्रशस्तपाद पृ0 50

9 क-तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्.........तै.उ. ब्रह्मवल्ली। ख-तस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्.........पैङ्गलोपनिषत्।

10 महर्षि दयानन्द सरस्वती-सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास-पृ0 144

11 बृहद्0 उप0 3.8, 3-4

12 कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति;...... एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति-बृहद्0 उप0 3.8.7, 11

13 क-अस्य लोकस्य का गतिरिति! आकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशदेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम्।।-छान्दोग्य 1.9.1, ख-सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाश देव जायन्ते। आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तस्मादाकाशं बीजं विद्यात्-नृसिंह पूर्वतापनीयोप0 3.1

वायु

पृथिवी आदि की अपेक्षा वायु सूक्ष्मतर है। सर्वप्रथम वायु के परमाणु कार्यरूप को प्राप्त होते हैं, जिससे स्थूलवायु की उत्पत्ति होती है। उपनिषद् के अनुसार आकाश से स्पर्शतन्मात्र वायु उत्पन्न होता है।[14] जानश्रुति पौत्रायण की जिज्ञासा का समाधान करते हुए रैक्व (गाड़ीवान्) का मन्तव्य है कि-अग्नि बुझ जाती है, तो उसका लय वायु में होता है। सूर्य के अस्त होने पर वायु में ही लय को प्राप्त करता है। जब जल सूखते हैं, तब वह वायु को ही प्राप्त होते हैं। वायु में ही सबका लय होता है।[15] रैक्व के इस मन्तव्य का समर्थन प्रशस्तपाद से भी होता है।[16]

रानाडे ने रैक्व के दर्शन को ग्रीक दार्शनिक अनैक्जीमैण्डर (Anaximander) के समान स्वीकार किया है, जिसका मत था कि-वायु सम्पूर्ण वस्तुओं का आदि और अन्त है।[17] तैत्तिरीयोपनिषद् ने भी आकाशाद् वायुः कहकर पृथिवी, जल, अग्नि से पूर्व वायु की उत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है। वायु आकाश से उत्पन्न होते हुए भी अशरीर है[18] अर्थात् उसका कोई आकार नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् में आकाश एवं वायु को अमूर्त कहा गया है।[19]

ईश्वर की सिसृक्षा के फलस्वरूप परमाणुओं में क्रिया होती है। इस क्रिया द्वारा परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक उत्पन्न होता है। इस द्व्यणुक आदि के क्रम से वायु उत्पन्न होता है।[20] विदेह जनक के बहुदक्षिण यज्ञ में आरुणि उद्दालक की शङ्का- यह लोक-परलोक तथा सारे प्राणी किसमें संग्रथित हो रहे हैं? का समाधान करते हुए याज्ञवल्क्य ने वायु की महत्ता को निम्नवत् रेखाङ्कित किया है-यह लोक और दूसरा लोक तथा सब भूत वायु रूप सूत्र से ही संग्रथित हैं। सबका बन्धन सूत्रात्मा वायु ही है।[21]

तेजस्

जगत् के मूलतत्त्व के रूप में अग्नि का विस्तृत एवं सुस्पष्ट विवेचन उपनिषदों में

14 क-स्पर्शवान् वायुः-वैशे. 2.1.4, ख-भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम्-महोपनिषत् 5.148

15 छान्दोग्य 4.3.1-2

16 "तथा पृथिव्युदकज्वलन पवनानामपि महाभूतानामनेनैव क्रमेणोत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् सति पूर्वस्य विनाशः" प्रशस्तपाद-पृ0 44-45

17 रानाडे, रा0द0-उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण-मनु0 रामानन्द तिवारी-पृ0 55

18 अशरीरो वायुः-छान्दोग्य 8.12.2

19 अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च-बृहदारण्यक 2.3.3

20 महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यः पवन परमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्योद्व्यणुकादि प्रक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नो नभसि दोधूयमानस्तिष्ठति-प्रशस्तपाद-पृ0 46

21 बृहदारण्यक 3.7.2

उपलब्ध नहीं है। कठोपनिषद् में स्वर्गसाधक,[22] लोक का आदिकारण[23] तथा लोक में प्रविष्ट होकर विविध स्वरूप में व्यक्त होने का संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है।[24] रानाडे ने कठ के इस वर्णन को हैंराक्लाइटस (Heraclites) के सिद्धान्त-'अग्नि सम्पूर्ण वस्तुओं में परिणत हो जाती है और सम्पूर्ण वस्तुओं की परिणति अग्नि है'[25] के सदृश माना है।

छान्दोग्य में ईश्वर के ईक्षण से तेज तथा तेज से जल की उत्पत्ति कही गयी है।[26] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी वायु से अग्नि एवं अग्नि से जल का उद्भव वर्णित है। रानाडे के अनुसार-अग्नि को सब पदार्थों का मूल कारण स्वीकार करना कठिन है, किन्तु अग्नि सम्पूर्ण पदार्थों को भस्म कर देती है। अत: उसे चरम प्रलय का कारण मानना उचित प्रतीत होता है।[27]

प्रशस्तपाद के अनुसार-वायुस्थ जल एवं पार्थिव परमाणुओं से जल एवं पृथिवी के उत्पन्न होने के अनन्तर-तेज के परमाणुओं से महान् तेजोराशि प्रकाशमान (उत्पन्न) होती है।[28]

आप:

तैत्तिरीयोपनिषद् में 'आप:' की उत्पत्ति अग्नि के पश्चात् कही गयी है। छान्दोग्योपनिषद् में में 'आप:' को पृथिवी का रस-सार कहा गया है।[29] ऐतरेयोपनिषद् में लोक रचना में चार प्रकार के लोक वर्णित हैं (1) वाष्पमय, (2) प्रकाशमय, अन्तरिक्ष, (3) पार्थिव एवं (4) जलमय लोक। यहाँ जो नीचे भूमि पर हैं, उन्हें आप: कहा है।[30] जल को सृष्टि का कारण कहा गया है। सृष्टि से पूर्व कुछ भी पदार्थ व्यक्त नहीं था। ईश्वर के सङ्कल्प से प्रकृति में कम्पन होकर जल उत्पन्न हुए।[31] आप: को उपनिषद् में मूर्त-व्यक्त कहा गया है।[32] यह दृश्य है।

चतुर्वेदोपनिषत् के अनुसार-एक नारायण ही था। न ब्रह्मा, न ईशान, न आप:, न

22 स त्वमग्निं स्वर्ग्यम्-कठ 1.1.13, 19
23 लोकादिमग्निम्-कठ 1.1.15
24 अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव-कठ-2.5.9
25 रानाडे, रा0द0-'उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण'-पृ0 56
26 तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत-छा 6.2.3
27 रानाडे, रा0द0-'उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण'-पृ0 56
28 तदनन्तरं तस्मिन्नेव महोदधौ तैजसेभ्योऽणुभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेणोत्पन्नो महास्तेजोराशिर्देदीप्यमानस्तिष्ठति-प्रशस्तपाद-पृ0 46
29 एषां भूतानां पृथिवी रस:, पृथिव्या आपो रस:-छा 1.1.2; + बृहद् उप0 6.4.1
30 स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचिर्मरमाप:। अदोऽम्भ: परेण दिवं द्यौ: प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचय:, पृथिवीमरो, या अधस्तात्ता आप:-ऐत. 1.1.2
31 नैवेह किंचनाग्र आसीत्......सोऽर्चन्नचरत्, तस्यार्चत आपोऽजायन्त-बृहद्. उप. 1.2.1
32 तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षात्-बृहद्. उप. 2.3.2

अग्नि, न वायु, न द्यावापृथिवी, न नक्षत्र, न सूर्य। वह एकाकी नर ही था। उसके ध्यानस्थ होने पर ललाट से स्वेद गिरे-वे यह आप: थे।[33] उनसे ही आगे सृष्टि (अन्न, ब्रह्मा, व्याहृति. ....) हुई।

बृहज्जाबाल एवं नृसिंह पूर्वतापनीयोपनिषत् के अनुसार-आदि में 'आप:' ही सलिल रूप थे।[34] इसी से सृष्टि का विस्तार हुआ। यहाँ जल की सलिलावस्था कही गयी है। निरुक्त दैवत काण्ड में भाव की आचिख्यासा के रूप में उद्घृत-

तम आसीत्तमसागूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्।।[35]

मन्त्रस्थ 'सलिलम्' पद का अर्थ आचार्य दुर्ग एवं स्कन्दस्वामी ने कार्य का कारण में लीन होना किया है।[36] अर्थात्-कार्यरूप अनित्य जल के परमाणु अपने कारण रूप परमाणुओं में रहने तथा उत्पन्न होने का आरम्भ होने पर वे परमाणु नाचते हुए से तीव्रता से संयुक्त होने लगते हैं।[37] इसी से कार्यावस्था होती है।

उक्त उपनिषद् वचनों में आप: का प्रथम वर्णन जल के दृश्य पदार्थ होने के कारण किया गया प्रतीत होता है। अत: इससे पूर्व वर्णित आकाश एवं वायु दोनों अमूर्त हैं।

पृथिवी

पृथिवी स्थल भूतों में प्रमुख है। पाँच द्व्यणुकों का संघात स्थूल पृथिवी कहलाती है।[38] सृष्टि प्रक्रिया में वायु में जल के परमाणुओं से महासमुद्र उत्पन्न होकर वेग से पोप्लूयमान बहता रहता है। महासमुद्र में ही पार्थिव परमाणुओं से महापृथिवी ठोस अवस्था में रहती है।[39] जलों के झाग ईश्वर के सङ्कल्प से संग्रथित होकर ठोस अवस्था को प्राप्त करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषत् में भी 'अद्भ्य: पृथिवी' कहकर जलों से ही पृथिवी की उत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है।

सुबालोपनिषत् में तमस् से भूतादि, भूतादि से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आप:, आप: से पृथिवी, तदनु एक अण्ड, संवत्सर पश्चात् द्विधा विभक्त

33 चतुर्वेदोपनिषत्-1; + द्र0-महोपनिषत्-ललाटात्स्वेदोऽपतत्। ता इमा: प्रतता आप: ततस्तेज:

34 क-अपो वा इदमासीत्सलिलमेव। स प्रजापतिरेक:..........इदं सृजेयमिति-बृहज्जाबाल 1.1, ख-आपो वा इदमासन्सलिलमेव।..........सृजेयमिति-नृसिंह पूर्वता0-1.1

35 रक् 10.129.3

36 क-सलिलं-सद्भावे लीनम्-दुर्ग:, नि07.3, ख-सलिलं सति सत्तालक्षणे कारणात्मनि लीनम्- स्कन्दस्वामी

37 यद्देवा अद: सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत।। ऋ 10.72.6

38 महर्षि दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश-अष्टम समुल्लास-पृ0 149

39 तस्मिन्नेव वायावाप्येम्य: परमाणुभ्यस्तेनैव क्रमेण महान् सलिलनिधिरुत्पन्न: पोप्लूयमानस्तिष्ठति। तदनन्तरं तस्मिन्नेव जलनिधौ पार्थिवेभ्य: परमाणुभ्यो महापृथिवी संहतावतिष्ठते-प्रशस्तपाद-पृ0 46

होने पर उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई।[40] यहाँ भी आप: से ही पृथिवी की उत्पत्ति कही गयी है। वहीं पर औषधि आदि की उत्पत्ति होकर तदनन्तर मनुष्य की उत्पत्ति होती है। नवीन वेदान्त में स्वीकृत पञ्चीकरण पैङ्गलोपनिषत् में तद्वत् उपलब्ध है।[41]

काल

नित्य पदार्थों में युगपत् आदि ज्ञान के न पाये जाने तथा जन्य पदार्थों में पाये जाने से कार्यमात्र के कारण (निमित्त) काल संज्ञा है।[42] काल एक, विभु एवं सभी मूर्त द्रव्यों का आधार है।[43] सभी जन्य वस्तुओं का कालिक आधार अनिवार्य है। परत्व, अपरत्व, युगपत्, क्षिप्र, चिर आदि प्रतीतियों का आधार भी काल है। काल-जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय रूपी क्रियाओं की अनिवार्य प्राग्दशा है।

काल में भौतिक गुण न होने से बाह्य प्रत्यक्ष नहीं होता है। साथ ही काल का मानसिक प्रत्यक्ष भी नहीं होता है। काल अनुमान गम्य है। वैशेषिक में परत्व, अपरत्व, युगपत्, चिर एवं क्षिप्र-ये पाँच अनुमापक हेतु कहे गये हैं।[44]

उपनिषदों में काल की परिभाषा उपलब्ध नहीं है, किन्तु छान्दोग्य के "आत्मा वा इदमेक एवाग्रआसीत्[45]" "असदेवेदमग्र आसीत्"[46] "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"[47] तथा बृहदारण्यक के-"नैवेहकिंचनाग्र आसीत्"[48], "आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध:"[49], आप एवेदमग्र आसु:"[50] आदि उद्धरणों में पठित 'अग्रे' पद द्वारा ऋषि का अभिप्रेत सृष्टि से पूर्व (परत्व) काल का अनुमापक है। तैत्तिरीयोपनिषत् के-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:। आकाशाद्वायु:। वायोरग्नि.........'[51] आदि में परत्व व अपरत्व काल के अनुमापक लिङ्ग हैं। इसी प्रकार पैङ्गलोपनिषत् में याज्ञवल्क्य द्वारा पैङ्गल को जगदुत्पत्ति (पञ्चभूतोत्पत्ति) तथा प्राणोत्पत्ति आदि के प्रसङ्ग में भी काल का अनुमान होता है।

40 तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्-बृहद्0 उप0 1.2.2

41 सुबालोपनिषत् खण्ड-1

42 ....सृष्टे: परिमितानि भूतान्येकमेकं द्विधाविधाय पुनश्चतुर्धा कृत्वा स्वस्वेतरद्वितीयांशै: पञ्चधा संयोज्य पञ्चीकृतभूतै:........पैङ्गलोपनिषत्-1

43 नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति-वैशे. 2.2.9

44 आकाशकालदिशामेकैकत्वाद् अपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्र: संज्ञा भवन्ति, आकाश: कालो दिगिति-प्रशस्तपाद-पृ0 49

45 क-अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि-वैशे. 2.2.6, ख-काल: परापर व्यतिकर यौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्ग:-प्रशस्तपाद-पृ0 54

46 छान्दोग्य-1.1.1

47 वही 3.1.9.1

48 वही 6.2.1

49 बृहद्. उप. 1.2.1

50 वही 1.4.1

51 वही 5.5.1

दिक्

जिससे यह पर है, यह अपर है- इस प्रकार का ज्ञान होता है वह दिक् सिद्धि में लिङ्ग है।[52] दिशा वस्तुत: एक है तथापि महर्षियों ने लोक-व्यवहार के लिये औपाधिक रूप से प्राची आदि दस संज्ञाएं रखी है।[53] दिक् देशिक परत्व-अपरत्व का असाधारण निमित्त कारण है।

उपनिषदों में दिक् विवेचन उपलब्ध नहीं है, किन्तु महोपनिषत् में ब्रह्मा के चतुर्मुखत्व तथा उसके पूर्वाभिमुख, पश्चिमाभिमुख, उत्तराभिमुख, दक्षिणाभिमुख होकर क्रमश: भू:, भुव:, स्व: तथा मह: इस व्याहृति चतुष्टय के (ब्रह्मा द्वारा) ध्यान के वर्णन से दिक् के अस्तित्त्व की स्वीकृति वर्णित है।[54] साथ ही उपनिषदों में आत्मतत्त्व को दिक्-काल से अनवच्छिन्न[55] प्रतिपादित किए जाने से भी दिक् की द्रव्यरूप सत्ता ज्ञापित होती है।

आत्मा

'आत्मा' शब्द उपनिषदों में जीवात्मा[56] एवं परमात्मा[57] दोनों का वाचक है। जीवात्मा अजर,[58] अमर[59], अज्ञ[60] तथा भोक्ता[61] है। परमात्मा सृष्टि का रचयिता, सर्वज्ञ तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है। प्रशस्तपाद ने आत्मा की सौक्ष्म्य के कारण प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार न कर शब्दादि के ज्ञान से अनुमित श्रोत्र आदि इन्द्रियों से उसका अधिगम माना है।[62] श्रीधर के मत में आत्मा अप्रत्यक्षत्व बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा से हैं।[63] उपनिषदों में आत्मा का विस्तृत वर्णन हुआ है। प्रस्तुत लेख की सीमा के कारण उसका पृथक् विवेचन अपेक्षित है।

मन

सुख-दु:ख आदि की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय मन है। मन आत्मा का कारण है।[64] विभुत्व का अभाव कथन करने से मन का परिमाण अणु है।[65] अर्थात्- प्रत्येक शरीर में मन एक और वह अणु है। कठोपनिषत् में शरीर को रथ, आत्मा को रथी, बुद्धि को सारथी,

52 तै.उ. ब्रह्मवल्ली-1

53 इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्-वैशे. 2.2.10

54 प्रशस्तपाद पृ0 57-59

55 महोपनिषत् अ. 1

56 दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तित:-महोपनिषत् 5.144

57 जीवेनात्मनानुप्रविश्य-छा. 6.3, 2-3

58 आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। -ऐत. 1.1.1

59 स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति। न वधेनास्य हन्यते।.........विजरो विमृत्यु:-छा. 8.1.5

60 ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा-श्वेताश्व.-1.9

61 अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्-श्वेताश्व. 1.8

62 तस्य सौक्ष्म्याद् अप्रत्यक्षत्वे सति करणै: शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितै: समधिगम: क्रियते-पृ0 59

63 प्रत्यक्षोपलब्धियोग्यताविरह: सौक्ष्म्यम्-श्रीधर, कन्दली-पृ0 71

64 त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति।.........। मनसाह्येव पश्यति, मनसाश्रृणोति-बृहद्. 1.5.3; प्रशस्तपाद-पृ0 67

65 तदभावादणु मन:। वैशे. 7.1.23-तदभाववचनाद् अणुपरिमाणम्-प्रशास्तपाद-पृ0 68

इन्द्रियों को घोड़े तथा मन को प्रग्रह-लगाम कहा है।[66] शरीर में प्राण का आना मन की वृत्तियों से ही होता है।[67] मन- प्राणों के साथ आत्मा में ही ओत है।[68] तैत्तिरीयोपनिषत् में लोक, देवता, भूत, इन्द्रिय, धातु के पांक्तत्व का वर्णन है, जिसमें इन्द्रिय (ज्ञान) पांक्त में चक्षु, श्रोत्र, वाक् एवं त्वक् के साथ मन पढ़ा गया है।[69] वाणी का मन में लय होने के कारण मन को वाणी से बड़ा कहा गया है। मन शरीरस्थ आत्मा की ज्योति है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपनिषदों का प्रतिपाद्य यद्यपि आत्मज्ञान, मोक्षप्राप्ति है। पुनरपि वहाँ न्यूनाधिक रूपेण द्रव्यों का उल्लेख भी हुआ है। सृष्ट्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में पञ्चभूत का वर्णन उपलब्ध होता है। भूतोत्पत्ति क्रम के विषय में उपनिषदों में भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं। एकत्र वायु की प्रथमोत्पत्ति वर्णित है, तो अन्यत्र जल से उत्पत्ति कही गयी है। कठोपनिषत् में अग्नि को ही आदि कारण कहा गया है। चतुर्वेद एवं बृहज्जावालादि में 'आप:' को ही प्राथम्येन वर्णित किया है। इस प्रकार उक्त प्रसङ्गों में परस्पर विरोध दिखायी देता है। उक्त आपातत: प्रतीयमान विरोध के विषय में महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत समाधान विशेषेण द्रष्टव्य है-

महर्षि के अनुसार-प्रलय के समय जहाँ तक प्रलय होता है, पुन: वहीं से उत्पत्ति होती है। यदि वायु से पूर्व अग्न्यादि का प्रलय हो, तब अग्नि से। वायु का प्रलय हो, तब वायु से इसी प्रकार जल से उत्पत्ति होती है। इस सङ्गतिकरण के फलस्वरूप प्रतीयमान विरोध परिहृत हो जाता है।

इस प्रकार उपनिषदों के दार्शनिक ग्रन्थ न होते हुए भी इतस्तत: द्रव्य विषयक मन्तव्य आनुषङ्गिक रूप से विवेचित है।

डॉ0 वेदपाल
रीडर, संस्कृत
जनता वैदिक कालेज
बड़ौत (बागपत) उ0प्र0

66 आत्मानं रथिनं..........मनीषिण: ।। कठ 33.9
67 आत्मन एष प्राणो जायते.......मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे-प्रश्न. 3.3
68 यस्मिन् द्यौ: पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मन: सह प्राणैश्च सर्वै:-मुण्डक 2.2.5
69 पृथिव्यन्तरिक्षं..........। चक्षु: श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्।-। पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्- तैत्ति0 शिक्षावल्ली 7.1

सांख्य दर्शन में 'विकास'

महर्षि कपिल प्रणीत 'सांख्य-दर्शन' भारतीय दार्शनिक परम्परा में आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में प्रमुख स्थान रखता है, जिसको *'षष्टितन्त्र'* से भी अभिहित किया गया है। 'सांख्य-दर्शन' के सृष्टि के विकास को गम्भीरता पूर्वक समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि सांख्य-दर्शनकार इसकी रचना किस प्रयोजन से करता है।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में सांख्य-दर्शनकार परम पुरुषार्थ अर्थात् समस्त दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति को मानता है; इनको तीन प्रकार के दु:खों में विभाजित किया जाता है- आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। जो दु:ख शारीरिक व मानसिक हों, जैसे लोभ, काम क्रोध, मोह, शारीरिक व मानसिक रोगादि, को आध्यात्मिक दु:ख कहते हैं। जो दु:ख अन्य प्राणियों, जैसे सर्प, मक्खी, मच्छर आदि प्राणियों, से उत्पन्न हों, उन्हें आधिभौतिक दु:ख कहते हैं; और आधिदैविक दु:ख वे हैं जो दैविक शक्तियों, जैसे अग्नि, वायु, भूकम्प आदि के कारण उत्पन्न होते हैं।[1]

उक्त तीनों प्रकार के दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए कपिल मुनि मात्र शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्म-काण्ड को उपयुक्त नहीं मानते क्योंकि ये कर्म-फल प्रदान करने वाले होते हैं और बाद में नष्ट हो जाते हैं। कर्म-फल के इस सिद्धान्त को '*गीता*' भी स्वीकार करती है।[2] अत: दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति को 'व्यक्त' अर्थात् सृष्टि या विकार '*अव्यक्त*' अर्थात् प्रकृति और '*ज्ञ*' या पुरुष के विवेक ज्ञान से ही प्राप्त होना बताया गया है।[3] सांख्य दर्शन में व्यक्त, अव्यक्त और '*ज्ञ*' में सृष्टि के सम्पूर्ण तत्त्वों का समावेश किया गया है; जो कि प्रलय और सर्ग काल में होते हैं। ये इस प्रकार हैं-

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।। (सांख्यकारिका 3)

अर्थात् मूल प्रकृति, ऐसा मूल कारण-तत्त्व जिसका कोई अन्य कारण तत्त्व न हो अर्थात् किसी अन्य तत्त्व का विकार या कार्य नहीं है, महत्तत्त्व आदि सात अर्थात् महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व, अहंकार और शब्द तन्मात्रादि पाँच तन्मात्राएँ, ये सात तत्त्व या पदार्थ '*प्रकृति-विकृति*' हैं अर्थात् यें प्रकृति का 'कार्य' होने के साथ-साथ अन्य तत्त्वों की कारण '*प्रकृति*' भी हैं तथा सोलह तत्त्वों का समुदाय आकाशादि पञ्चमहाभूत, श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन जो कि उभयेन्द्रिय है, मात्र विकार या कार्य हैं। अत: यह स्पष्ट होता है कि इन पच्चीस तत्त्वों में केवल दो ही मूल तत्त्व हैं जो किसी का कार्य नहीं है, अपितु प्रकृति ही अन्य सभी तत्त्वों का कारण तत्त्व या उपादान

1. सांख्यकारिका -1
2. गीता 9/21
3. सांख्यकारिका -2

पदार्थ है। यें दो तत्त्व हैं-प्रकृति और पुरुष।

गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं।[4] तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् हैं। प्रकृति को प्रधान भी कहा जाता है। यह अव्यक्त, जड़ अचेतन, विवेकशून्य, स्वतन्त्र, नित्य, व्यापक और अनेक पुरुष, भोग्य है, निरन्तर परिणाम शील व प्रसव-धर्मिणी है, ज्ञेय है। दूसरा तत्त्व पुरूष जिसे अन्य दर्शनों में आत्म-तत्त्व या आत्मा भी कहा गया है, प्रकृति के विपरीत अर्थात् चेतन, विषयी, विवेकी, निष्क्रिय, अपरिणामी तीनों गुणों से रहित कहा गया है।[5] यह पुरुष साक्षी, केवल तटस्थ दृष्टा और अकर्त्ता है।[6] कपिल मुनि ने पुरुषों की संख्या को अनेक माना है।[7]

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि जब दोनों तत्त्व स्वतन्त्र तथा एक दूसरे से विपरीत हैं तो उनसे सृष्टि का विकास क्यों होता है? कैसे होता हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में सांख्य-दर्शनकार कहता है कि इसमें प्रकृति और पुरुष प्रयोजन है। प्रकृति को पुरुष की अपेक्षा इस प्रयोजन से हैं कि वह पुरुष को दिखना, भोग कराना और मोक्ष कराना चाहती है। पुरुष चाहता है कि वह प्रकृति को देखे, उसका भोग करे और उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके कैवल्य या मोक्ष को प्राप्त करे। इस प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए सांख्य-दर्शनकार लंगड़े और अन्धे व्यक्ति का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहता है कि जिस प्रकार गाँव में आग लगने पर लंगड़ा व्यक्ति अन्धे के कन्धों पर बैठकर उसे रास्ता बताता है और अन्धा उसे अपने कन्धों पर बैठाकर ले जाता है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के सहयोग से अपनी जान को बचा पाते हैं; ठीक ऐसे ही प्रकृति अचेतन और अन्धी है, पुरुष चेतन व दृष्टा है, परन्तु लंगड़ा या निष्क्रिय है; ये दोनों ठीक लंगड़े व अन्धे की भाँति ही मिलकर सृष्टि रचना कर अपने प्रयोजन की सिद्धि करते हैं।[8]

प्रकृति के सम्पर्क में पुरुष के आने से गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ या विषमता उत्पन्न हो जाती है।[9] प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था में इसी विषमता के कारण विकार उत्पन्न होता है। इस विकार को ही सृष्टि का विकास कहा जाता है। सांख्य-दर्शनकार के अनुसार विकास का क्रम इस प्रकार है-

प्रकृतेमहांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।। (सां0का0 22)

अर्थात् प्रकृति ये प्रथम महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व प्रादुर्भूत होता है और उस अहंकार से

4. गुणानां साम्यावस्थाप्रकृतिः।
5. सांख्यकारिका -11
6. सांख्यकारिका -19
7. सांख्यकारिका -18
8. सांख्यकारिका -21
9. संगमलाल पाण्डे, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ0 198

सोलह तत्त्वों पाँच तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियों के समुदाय का प्रादुर्भाव होता है। इस सोलह तत्त्वों के समुदाय में से भी पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों का प्रकटीकरण होता है।

सृष्टि में प्रादुर्भूत होने वाला प्रथम तत्त्व बुद्धि है। निश्चय करने वाले तत्त्व को बुद्धि कहा जाता है। इसके दो रूप होते हैं- सात्त्विक और तामसिक रूप। जब बुद्धि सात्त्विक रूप में होती है तो उसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य उत्पन्न होते हैं और जब तामसिक रूप में होती है तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य उत्पन्न होते हैं।[10]

सृष्टि विकास प्रक्रिया में प्रादुर्भूत होने वाला दूसरा तत्त्व अहंकार-मैं हूँ, मेरा है, मैंने किया है, मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ-आदि को विचार करने वाला तत्त्व है। अहंकार से दो प्रकार का विकार उत्पन्न होता है-ग्यारह ज्ञानेन्द्रियों का समुदाय और पाँच तन्मात्राएं।[11]

अहंकार तीन प्रकार के होते हैं- वैकृत या सात्त्विक, तैजस् या राजसिक और भूतादि या तामस अहंकार। ये क्रमशः सत्त्व, रजस् व तमस् प्रधान होते हैं। '*वैकृत*' अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं एक मन सहित ग्यारह इन्द्रियों का विकास होता है। भूतादि अहंकारक से पांच तन्मात्राएँ विकसित होती हैं।[12] नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा एवं त्वचा नामक इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रिय तथा वाणी, पाणि (हाथ), पाद (पैर), गुदा एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय) नामक इन्द्रियों को कर्मेन्द्रिय कहते हैं।[13] मन को उभयात्मक इन्द्रिय माना गया है क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है। ज्ञान की प्रक्रिया में सहयोगी होने के कारण ज्ञानेन्द्रिय है और संकल्प करने के कारण कर्मेन्द्रिय है।[14]

पाँच ज्ञानेन्द्रियों नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा एवं श्रोत्र के विषय क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द हैं, जिनका ये आलोचन-संवेदन करती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों वाणी, पाणि, पाद, गुदा एवं उपस्थ के विषय क्रमशः वचन (बोलना), आदान (पकड़ना या ग्रहण करना), गमन या चलना, मन का उत्सर्जन और रमण करना है। इनमें बुद्धि, अहंकार और मन को तीन प्रकार के अन्तःकरण तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों को दस ब्राह्य करण माना गया है। इस प्रकार सांख्य-दर्शनकार तेरह प्रकार के करण या साधन मानता है।[15] बाह्यकरण वर्त्तमान के पदार्थों को विषय बनाते हैं जबकि अन्तःकरण भूत, वर्त्तमान और भविष्य के पदार्थों को विषय बनाते हैं।[16]

10. सांख्यकरिका -23
11. सांख्यकारिका -24
12. सांख्यकारिका -25
13. सांख्यकारिका -26
14. सांख्यकारिका -27
15. सांख्यकारिका -32
16. सांख्यकारिका -33

सांख्यदर्शन में उपर्युक्त वर्णित सभी तत्त्वों को सूक्ष्म माना गया है। भौतिक जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि पाँच तन्मात्राओं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्रा, से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है। सभी तन्मात्राएँ या सूक्ष्मभूत विशेषताओं से रहित हैं जबकि स्थूलभूत शान्त, घोर एवं मूढ़ स्वभाव वाले होने के कारण सविशेष अर्थात् विशेषताओं से युक्त हैं।[17]

उपर्युक्त सृष्टि के विकासक्रम से स्पष्ट ही है कि सृष्टि के दो ही मौलिक तत्त्व हैं- प्रकृति और पुरुष। इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि दोनों तत्त्व विपरीत हैं तो संयोग किस प्रकार सम्भव होगा? इस प्रश्न के समाधान में साख्य-दर्शनकार ने गाय के अचेतन दूध द्वारा चेतन बछड़े को पालन-पोषण का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार दूध स्वतः ही गाय के स्तनों में आ जाता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति चेतन पुरुष के भोग-योग के लिए प्रकट होती है।[18] परन्तु यह दृष्टान्त भी पुरुष व प्रकृति के संयोग की सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाता क्योंकि दूध के प्रकटीकरण में गाय निमित्त है जब पुरुष, प्रकृति के सम्बन्ध में सांख्य-दर्शनकार इस प्रकार से किसी तीसरे तत्त्व के रूप में कोई निमित्त कारण स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार की विसंगतियों को देखकर प्रायः कहा जाता है कि सांख्य दर्शन के द्वैतवादी की कोई सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं हो पाती। जहाँ चन्द्रधर शर्मा जैसे दार्शनिकों ने इस विसंगति को स्वीकार किया है वहीं कुछ प्रबुद्ध पाश्चात्य दार्शनिकों ने इसका समाधान, अन्तःक्रियावाद से देकार्त व समानान्तरवाद के अनुसार स्पिनोजा ने करने का अफसल किन्तु प्रशंसनीय प्रयास किया है।[19]

द्वैतवाद की इस समस्या को यदि कपिल मुनि प्रणीत सांख्य-दर्शन के प्रयोजन के प्रकाश में देखें तो समस्या का समाधान दिखायी पड़ता है। सांख्य-दर्शन का प्रयोजन मानवीय चेतना को दुःखों से आत्यन्तिक रूप से छुटकारा दिलाना है। दुःखनिवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा वैयक्तिक है।[20] यदि इस वैयक्तिक समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो दुःखों का अस्तित्त्व मनोवैज्ञानिक जान पड़ता है। जो दुःख हमें दूसरों के द्वारा दिये गये जान पड़ते हैं वें भी गम्भीरतापूर्वक निरीक्षण करने पर वैयक्तिक ही दिखायी पड़ते हैं। इसका परीक्षण अखबारों में छपी खबरों से किया जा सकता है। जहाँ एक ओर ऐसे लोगों की कमी नहीं जो भौतिक सम्पन्नता के सभी साधन होने के बाद भी दुःखों से तंग आकर आत्महत्या जैसा कदम उठाते हैं। खुश आदमी तो इतना आनन्दित होता है कि उसको आत्महत्या का विचार भी नहीं आयेगा। आत्महत्या व्यक्ति उस समय करता है कि जब वह

17. सांख्यकारिका -38
18. सांख्यकारिका -57
19. पाश्चात्य दर्शन -चन्द्रधर शर्मा
20. डॉ0 रामकृष्ण आचार्य, सांख्यकारिका सांख्य तत्त्वकौमुदी सहित, पृ0 2

दु:खों की अन्तिम अवस्था में होता है। दूसरे ऐसे लोग भी देखने को मिल जाते हैं कि जिनको सभी वस्तुओं का अभाव होता है और वें मुस्कराते, नाचते, गाते और आनन्दित होते हैं। फक्कड़ सन्तों के पास कुछ नहीं होता परन्तु फिर भी उनके अन्दर से आनन्द बहता रहता है। इसी मनोवैज्ञानिक कारण को ध्यान में रखते हुए सांख्य-दर्शनकार मनुष्यों को अपने तत्त्वज्ञान के विवेचन व अभ्यास द्वारा एक ऐसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक शक्ति विकसित कराना चाहते हैं कि जिससे व्यक्ति दु:ख-सुख के द्वन्द्व से ऊपर उठकर विना दु:ख व सुख के आनन्दपूर्वक जीवन जी सके। कपिल मुनि कहते हैं कि यह तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने शरीर को एक मात्र यन्त्र की भाँति देख सके जिससे उसको इस समझ के कारण शरीर की भूख, प्यास, मान-सम्मान आदि कष्टकारक नहीं होंगे। जब यह 'दृष्टा' उत्पन्न हो जाता है तो ही वह '*कैवल्य*' को प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि सांख्य-दर्शनकार ने पुरुष व प्रकृति के द्वैत के सैद्धान्तिक चक्कर में न फँसकर, सांख्य-दर्शन को बौद्धिक व्यायाम न बनाकर जीवन की एक कला बनाना चाहा है।

निष्कर्ष रूप में कहें तो सांख्यदर्शन के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से जहाँ द्वैत की विसंगति युक्त व्याख्या प्राप्त होती है, वहीं व्यावहारिक जीवन की अद्वितीय कला प्राप्त होती है जिससे मानवीय अस्तित्त्व को तृप्ति प्राप्त होती है। अत: कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन के पच्चीस तत्त्वों की व्याख्या व्यक्तिगत तृप्ति के लिए है न कि बौद्धिक तृप्ति के लिए जो कि इस दृष्टि से उचित ही है।

बबलू वेदालंकार
शोधछात्र, दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

साधक के लिए योग

योग शब्द "युज्" धातु के बाद करण और भाववाच्य में "घञ्" प्रत्यय लगाने से बनता है। "युज्" धातु का अर्थ है, समाधि। योग शब्द का वास्तविक अर्थ समझने के लिए "समाधि" शब्द को भी समझना होगा। समाधि शब्द का अर्थ है सम्यक् प्रकार से भगवान् के साथ युक्त हो जाना, मिल जाना, भगवदानन्द में निमग्न हो जाना। जीव का कामना, वासना, आसक्ति, अविद्या, अस्मिता आदि आगन्तुक मलिनता को दूर कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्-योग.द. 1-1-3"। योग की अनेक परिभाषायें उपलब्ध हैं-जिनमें महर्षि वशिष्ठ ने श्रीराम को उपेदश करते समय कहा है कि "मनः प्रशमनोमुपायः योग इत्यभिधीयते" अर्थात् मन के प्रशमन के उपाय का नाम योग है। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में योग की तीन परिभाषायें दी है-(1) "समत्वं योग उच्यते-गीता 2-48" अर्थात् आसक्ति का परित्याग करके, फल की वासना से रहित सिद्धि अथवा असिद्धि में अर्थात् अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में समान भाव से रहना योग है। (2) "योगः कर्मसु कौशलम्-गीता-2-50" कर्म में कुशलता का नाम योग है। अर्थात् कर्मों का सम्पादन इस विधि से किया जाये जिससे हम कर्मफल के बन्धन में न आ पायें। तृतीया परिभाषा-"तं विद्याद्दुःख संयोग वियोगं योग सञ्ज्ञितम्-गीता 6-23" अर्थात् दुःख के संयोग के वियोग को योग जानना चाहिए। योगी याज्ञवल्क्य ने जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा है-"संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः-याज्ञ0 स्मृति-1-8 योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि, जिन्हें योग के अधिकारिक रूप से जाना जाता है, ने योग को परिभाषित करते समय कहा है कि-"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः-योग 1-2" अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है। अर्थात् चित्त की वृत्तियों को समाप्त कर देना, चित्त का लय कर देना। समाधि में स्थित होना।

अनेक व्यक्ति समाधि लगाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनका मन शान्त नहीं होता। इसका कारण है हम चित्त को शान्त करने के उपाय उचित ढ़ंग से नहीं कर रहे हैं। समाधि सिद्धि के लिए महर्षि पतञ्जलि ने अनेक उपाय अपने योग-दर्शन में बताये हैं। उनमें प्रारम्भिक साधकों के लिए अष्टांग योग का निदर्शन किया है। यम और नियमों के विना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। विषयों को विष के समान समझकर दूर से ही त्यागना होता है। योग के आठ अंग हैं-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि-यो. 2/29 में अङ्ग क्रम से हैं और बड़े ही वैज्ञानिक है। पहला अंग दूसरे की, दूसरा तीसरे की, क्रम से अपेक्षा रखता है। साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर साधना पथ पर बढ़ता है। इसीलिए इन आठों अंगों की दो भूमिकायें हैं-बहिरङ्ग और अन्तरंग प्रथम पाँच बहिरंग हैं और अन्त में तीन अन्तरंग है। निर्जीव समाधि की दृष्टि से ये तीनों अन्तरंग भी बहिरंग है। इन अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि के नाश होने पर

विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है-"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते:-यो. 2/28"। अब इन आठों अंगों का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है-

१.यम

यम का अर्थ है आत्म-अनुशासन। यम संख्या में पाँच हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमा:-योग-2/30।"

अहिंसा:

किसी भूत प्राणी को या अपने को भी मन, वाणी और शरीर द्वारा, कभी, किसी प्रकार, किञ्चितमात्र भी, कष्ट न पहुँचाने का नाम अहिंसा है। तीन प्रकार की हिंसा होती है।-कायिक, वाचिक और मानसिक तथा तीन प्रकार से ही की जाती है-कृत (करना), कारित (करवाना), अनुमोदित। इन ।भी प्रकार की हिंसा का पूर्णत: परित्याग ही अहिंसा है। अहिंसा का स्वरूप अति सूक्ष्म है। हित साधन के लिए प्रताड़ना हिंसा नहीं है। आत्म, राष्ट्र, सामज अथवा देश की रक्षा के लिए की गई हिंसा भी हिंसा की श्रेणी में नहीं आती है। यदि ये कार्य, राग-द्वेष, स्वार्थ अथवा बदला लेने की भावना से किये जाते हैं तो यह हिंसा हो जाती है। अहिंसा को शास्त्रों में सर्वोपरि स्थान दिया है। अहिंसा के पालन करने से समस्त प्राणी वैर भाव त्यागकर मैत्री पूर्वक रहते हैं।

सत्य

प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द प्रमाण द्वारा वस्तु के यथार्थ रूप को मन में धारण करना, वाणी से कथन करना, तथा उसी के अनुसार व्यवहार करना सत्य कहा जाता है। परन्तु यह सत्य तभी सत्य है जब यह प्राणी मात्र के लिए उपकार व हित की भावना से कल्याणकारी हो। यदि सत्य व अहिंसा में विरोध हो और सत्य बोलने से हिंसा होती हो तो वहाँ सत्य न बोलना ही ठीक है। अहिंसा ही यम और नियमों का मूल है। अत: सर्वदा कपट रहित मधुर वचनों का प्रयोग करना चाहिए।

अस्तेय

मन, वाणी, शरीर द्वारा किसी प्रकार के भी किसी के स्वत्व (हक) को न चुराना अस्तेय है। साधक को चाहिए कि वह अस्तेय का पूरा पालन करें। अस्तेय के सिद्ध हो जाने पर सभी प्रकार की सम्पदायें साधक के सामने उपस्थित हो जाती है-"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वेरत्नोपस्थानम्-यो. 2/37"।

ब्रह्मचर्य

मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा काम विकार को किसी भी तरह उदय न होने देना ब्रह्मचर्य है। इसका व्यापक अर्थ है-"ब्रह्मणि चरणस्य भावं ब्रह्मचर्यम्" अर्थात् ऐसा आचरण

जिससे ब्रह्म की अधिक से अधिक समीपता हो। इस समीपता को इन्द्रियों पर संयम करके प्राप्त किया जा सकता है।

अपरिग्रह:

धन सम्पत्ति आदि भोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक संचय न करना ही अपरिग्रह है। अस्तेय के अन्तर्गत तो अनधिकार पूर्वक किसी का धन न लेना है, परन्तु अपरिग्रह के पालन करने के लिए अपने परिश्रम से लगाये हुए धन को भी आवश्यकता से अधिक एकत्र नहीं किया जा सकता है।

२. नियम

अष्टाङ्ग योग का दूसरा अङ्ग है नियम। नियम से तात्पर्य है कि कुछ नियमित अनुष्ठानों के द्वारा मन को अनुशासन में लाना। ये नियम भी संख्या में पाँच हैं-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान-''शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:-योग 2/32।''

शौच

शौच का अर्थ है पवित्रता। यह पवित्रता दो प्रकार की होती है-ब्राह्य तथा आभ्यन्तर। ब्रह्य शौच अर्थात् बाहरी पवित्रता शरीर को स्नान आदि से पवित्र रखना, वस्त्रों को स्वच्छ रखना, सत्विक आहार करना, रहने का स्थान स्वच्छ रखना बाहरी शौच है। चित्त के मलों को धोना आभ्यन्तर अर्थात् भीतरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग, द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम क्रोधादि आन्तरिक दुर्गुणों के त्याग से आभ्यन्तर शौच होता है।

सन्तोष

सुख-दु:ख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट-प्रसन्नचित रहने का नाम सन्तोष है। सन्तोष का अर्थ भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठना, आलस्य और प्रमाद का जीवन बीताना नहीं है। वेद के उपदेश के अनुसार मनुष्य को सदा कर्म करते रहना चाहिए निष्काम कर्म से प्राप्त परिणाम में प्रसन्न रहना सन्तोष है।

तप

द्वन्दों को सहन करना तप कहलाता है। यह शरीर, प्राण, इन्द्रियों तथा मन को उचित रीति से वश में करने की क्रिया है। इससे साधक भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, हर्ष-शोक आदि विघ्नों की अवस्था में विना विक्षेप के रहता है। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातु का मल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तप की अग्नि में चित्त के तमस् रूपी मल नष्ट हो जाते हैं तथा चित्त समाधि के योग्य हो जाता है।

स्वाध्याय

मुक्ति प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन तथा ओंकारादि पवित्र मन्त्रों का जप करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय से इष्ट सिद्धि होती है।

ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर की विशेष भक्ति। शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि समस्त प्रकार के साधनों के द्वारा किये जाने वाले समस्त कर्मों ओर उनके फलों को समग्रता से ईश्वर को समर्पण कर देना, ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि में शीघ्र ही सफलता मिलती है। साधक के योग में आने वाले विघ्न छूट जाते हैं। भगवदानुभूति का अनुभव होने लगता है।

३. आसन

प्राणायाम, ध्यान आदि क्रियाओं के करने के लिये स्थिर भाव से रहना पड़ता है, जिसके लिए आसन की आवश्यकता पड़ती है। जिस अवस्था में शरीर विना हिले-डुले स्थिरता पूर्वक तथा सुख पूर्वक रह सके उसे आसन कहते हैं-"स्थिरसुखमासनम्-यो. 2/46।" शरीर की स्वाभाविक चेष्टा के शिथिल करने अर्थात् इनसे उपराम होने पर अथवा अनन्त परमात्मा में मन के तन्मय होने पर आसन की सिद्धि होती है।" प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्-यो. 2/47"। आत्मसंयम चाहने वाले पुरुषों के लिए सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन तथा सुखासन ये चार ही उपयोगी माने गये हैं। आसन के सिद्ध होने पर द्वन्द्व बाधा नहीं करते। गीता के अनुसार मेरुदण्ड पर जोर न देकर,........गर्दन और सिर को सीधा रखने की स्थिति में रहने का नाम आसन है।

४. प्राणायाम

प्राण ही जीवन है। प्राण के विना प्राणी जीवित नहीं रह सकता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त श्वांस-प्रश्वांस की क्रिया चलती रहती है। आसन के लिए सिद्ध हो जाने पर श्वांस और प्रश्वांस की गति का विच्छेद करना प्राणायाम कहलाता है।-"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम-यो. 2/49"। प्राणायाम द्वारा साधक प्राण पर विजय प्राप्त करता है। जिस प्रकार अग्नि में धोंकनी से तपाने से धातुओं के मल नष्ट होते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम से ज्ञान के ऊपर पड़ा आवरण नष्ट हो जाता है।-"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्-यो.-2/52"। साधक में धारणा की योग्यता आती है।-"धारणा सु च योग्यता मनसः-यो. 2/53।"

प्राणायाम की सुखपूर्वक सफलता के लिए महर्षि पतञ्जलि ने इसका इस प्रकार वर्णन किया है। तथा इसके चार भेद किये हैं-देश, काल, संख्या के सम्बन्ध से बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति वाले ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं-"बाह्याभ्यान्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः-यो. 2/50"।

बाह्यवृत्ति

अभ्यस्त आसन पर स्थित होकर भीतर के श्वांस को बाहर निकालकर बाहर ही रोके रखना बाह्य वृत्ति कहलाता है। इसी को बाह्यकुम्भक भी कहते हैं। इसकी विधि है-आठ ओ3म् से रेचक (श्वांस को बाहर) करें, सोलह से बाह्यकुम्भक और चार से पूरक अर्थात् श्वांस को अन्दर लेना। इस प्रकार यह बाह्यवृत्ति प्राणायाम होता है।

आभ्यन्तर वृत्ति

बाहर के श्वांस को भीतर खींचकर भीतर रोकने को आभ्यन्तर वृत्ति कहते हैं। इसको आन्तरिक कुम्भक भी कहते हैं। अनुपात 4:16:8 क्रमशः पूरक, कुम्भक और रेचक है।

स्तम्भवृत्ति

इसमें रेचक, पूरक का ध्यान न रखते हुए प्राण को जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है। श्वांस और प्रश्वांस दोनों की गति को रोक देना स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है। इस को केवल कुम्भक कहते हैं।

प्राण वायु का नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिका के भीतर के भाग का नाम आभ्यन्तर देश है। नासिका पुट से वायु का बाहर सोलह अंगुलतक बाहरी देश है। जो साधक पूरक प्रायाणाम करते समय नाभि तक श्वांस को खींचता है, वह सोलह अंगुलतक बाहर फेंके, जो हृदय तक अन्दर खींचता है, वह बारह अंगुलतक बाहर फेंके, जो कण्ठ तक श्वांस को खींचता है, वह आठ अंगुलतक बाहर निकाले और जो नासिका के अन्दर ऊपरी अन्तिम भाग तक ही श्वांस खींचता है, वह चार अंगुना बाहर तक श्वांस निकाले। इसमें पूर्व-पूर्व से उत्तर वाले को "सूक्ष्म" और पूर्व-पूर्व वाले को "दीर्घ" समझना चाहिए। जैसे चार ओ३म् से पूरा करते समय एक सेंकेंड समय लगा तो सोलह ओ३म् से कुम्भक करते समय चार सेंकेंड और आठ प्रणव से रेचक करते समय दो सैकेंड समय लगा। मन्त्र की गणना का नाम "संख्या" या मात्रा है, उसमें लगने वाले समय का नाम "काल" है। चतुर्थ प्राणायाम इस प्रकार है-

यह प्राणायाम सबसे उच्च कोटि का है। उपर्युक्त तीनों प्राणायामों के लम्बे अभ्यास के पश्चात् ही यह सम्भव है। इसमें बाह्याभ्यन्तर, देश, काल आदि विषयों का चिन्तन छोड़ दिया जाता है। इसमें प्राण की गति स्वतः ही रुक जाती है तथा साधक को प्राण के भीतर यह बाहर जाने का पता भी नहीं रहता है। इसका वर्णन महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रकार किया है-"बाह्याभ्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः-यो. 2/51"। अन्य अनेक प्रकार के प्राणायाम हठ योग आदि में वर्णित है, जो साधक के लिये शरीर शुद्धि के लिए उपादेय है।

५. प्रत्याहार

अपने-अपने विषयों को संग से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के रूप में

अवस्थित होना प्रत्याहार है-''स्वाविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुष्कार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार है-''योग. 2/54''। इस प्रत्याहार से इन्द्रियाँ अत्यन्त वश में हो जाती हैं-''तत: परमावभ्यतेन्द्रियाणाम्-यो. 2/55''। योग के आगे के अंगों की सफलता तभी सम्भव हो सकेगी जब इन्द्रियों पर अधिकार हो जायेगा। अत: प्रत्याहार की सिद्धि आवश्यक है।

६. धारणा

चित्त को किसी एक देश विशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है-''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा-योग-3/1।'' अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बाँध देना, स्थिर कर देना, लगा देना ''धारणा' कहलाता है।

७. ध्यान

धारणा का दृढ़ अभ्यास होने पर, जिस विषय में धारणा की गई है। उसी ध्येय विषयंक ज्ञान रूप अविच्छिन्न सजातीय वृत्ति प्रवाह को ध्यान कहते हैं-''तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्-योग. 3/2।'' अर्थात् चित्त वृत्ति का गंगा के प्रवाह की भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से निरन्तर ध्येय वस्तु में ही अनवरत लगा रहना ''ध्यान'' कहलाता है।

८. समाधि

''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि: यो. 3/3''। वह ध्यान ही समाधि हो जाता है जिस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भान रहे तथा अपने स्वरूप के भान का अभाव-सा रहता है। ध्यान में ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। परन्तु समाधि में केवल अर्थमात्र वस्तु अर्थात् ध्येय वस्तु ही रहती है, ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों की एकता सी हो जाती है।

ऐसी समाधि स्थूल पदार्थों में होती है तब उसे निर्वितर्क कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थों में होती है तब उसे निर्विचार कहते हैं। संस्कार मात्र रहने तक सजीव कहलाती है, संस्कार शून्य होने पर निर्जीव कहलाती है। यह समाधि सांसारिक पदार्थों में होने से सिद्धि प्रद होती है, जो कि अध्यात्म विषय में हानिकारक है। और यही समाधि ईश्वर विषयक होने से मुक्ति प्रदान करती है। इसलिए कल्याण चाहने वाले पुरुषों को अपने इष्ट देव परमात्मा के स्वरूप में ही समाधि लगानी चाहिए। इसमें परिपक्वता होने पर, अर्थात् उपर्युक्त योग के आठों अंगों के भलीभाँति अनुष्ठान से मल और आवरण आदि समस्त क्लेशों के क्षय होने पर, विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान की दीप्ति होती है और उस विवेक ख्याति से, अविद्या का नाश होकर कैवल्यपद की प्राप्ति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

साध्वी प्राची आर्या
वैदिक निकेतन
सिरसली-बड़ौत
जिला-बागपत (उ0प्र0)

आधुनिक सन्दर्भ में योग की उपादेयता

महर्षि पतंजलि के द्वारा आविष्कृत और परिष्कृत योगाभ्यास का मार्ग सर्वदेश, सर्वकाल और सर्वजनों के लिये कल्याणकारी है। योग-साधना कोई ऐसा आचरण नहीं है, जिसकी प्रासंगिकता किसी विशेष समाज, विशेष वर्ग, विशेष जाति, विशेष राष्ट्र या विशेष काल में ही अनुभव की जा सके। अपितु यह तो शाश्वत् कल्याण का मार्ग है, जो प्रत्येक मनुष्य के लिये क्षेत्र और आयु में समान रूप से उपयोगी हैं।

योग साधना एक निवृत्ति का मार्ग है। प्रवृत्ति मार्ग भोगवादी मार्ग होता है। भोग का मार्ग मनुष्य को शाश्वत् सुख प्रदान नहीं कर सकता। वह आपातरूप से थोड़ी देर के लिये इन्द्रियों को क्षणिक सुख भले ही प्रदान कर दे किन्तु अन्त में भोगवादी मार्ग मनुष्य को दुर्बल बनाने वाला दु:खदायक और अन्धकार में ले जाने वाला होता है। इसलिये चिन्तनशील पुरुष आपातरमणीय विषयों से भोगानिवृत्त होकर योग-साधना में प्रयत्नशील होते हैं।

प्राचीन काल में योग साधना जितनी महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारी थी, उससे कहीं अधिक इसका महत्त्व आधुनिक सन्दर्भ में है। आज का मनुष्य, समाज और राष्ट्र पहले की अपेक्षा अधिक संतप्त और दु:खी है। यद्यपि आज विश्व में वैज्ञानिक पद्धति चरम सीमा पर है, वैज्ञानिक उपकरणों ने मानव जीवन को अधिक सुविधा सम्पन्न और भौतिक दृष्टि से समृद्धिशाली बना दिया है। किन्तु ये सभी समृद्धियाँ मनुष्य को शान्ति और सन्तोष प्रदान नहीं कर सकीं। मनुष्य का जीवन दिन-प्रतिदिन अशान्त और असन्तुष्ट होता जा रहा है। सन्तोष के विना तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ भी मनुष्य के लिये थोड़ी पड़ जाती है। ज्यों-ज्यों भोग-तृष्णा बढती है, त्यों-त्यों सुख शान्ति घटती जाती है। क्योंकि सुख और शान्ति भौतिक विषयों के भोग में नहीं है। वास्तविक सुख और शान्ति तो भोगों की निर्वृत्ति में है, भोगों से निर्वृत्ति केवल योग-साधना से ही हो सकती है।

यह बड़े सन्तोष का विषय है कि आज मनुष्य योग-साधना की ओर पुन: प्रवृत्त हो रहा है। सदियों के बाद मनुष्य योग-साधना के महत्त्व को पुन: पहचानने लगा है। आज भारत में ही नहीं अपितु विश्व में योग का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा है। यह परिवर्तन अकस्मात् नहीं हुआ अपितु यह परिवर्तन स्वाभाविक है। भोग की चरम सीमा पर पहुँचकर निवर्तन तो आवश्यक ही है। आज नहीं तो कल मनुष्य को वापिस लौटना ही है, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है। आत्मा को जाने विना मृत्यु के संतरण का कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। श्रुति कहती है कि उस आत्मा को जानकर ही मृत्यु को पार किया जा सकता है। 'नान्य:पन्था विद्यतेऽयनाय:'- अन्य कोई उपाय नहीं है।[1]

आधुनिक सन्दर्भ में योग साधना के अभ्यास से मनुष्य को क्या-क्या लाभ हो सकते हैं और वह कौन-कौन से संकटों पर विजय प्राप्त कर सकता है, इस पर हम संक्षेप

1. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्। -श्वेताश्वतर उपनिषद्

से विचार करेंगे।

१- वैर-भाव का त्याग- आज का मानव, उसका परिवार और समाज द्वेष और वैर-भाव की अग्नि में निरन्तर तप रहा है। मनुष्य को आज अपनी उन्नति से सन्तोष नहीं है अपितु वह तो दूसरों की समृद्धि को देखकर दु:खी है। यही बात पूरे राष्ट्र के सन्दर्भ में भी देखी जाती है। सभी राष्ट्र एक दूसरे को नष्ट करने में लगे हुए हैं। मनुष्य ने आज इतने घातक अणु बम, हाइड्रोजन बम आदि अस्त्र बना लिये हैं, जिससे मानव सभ्यता का नामोनिशान कुछ ही घण्टों में मिट सकता है। भौतिक प्रगति में आगे निकलने की होड़ मनुष्य को विनाश की उस गुफा में ले जा रही है, जहाँ से यदि वह वापिस आना चाहेगा तो आ नहीं पायेगा। हिंसा की भावना कभी सुख की ओर नहीं ले जाती। वैर से वैर ही बढ़ता है, शान्त नहीं होता। मनु महाराज ने यही बात कही थी।[2] शाश्वत् सुख का उपाय अहिंसा ही है। अहिंसा से ही वैर-भाव की शान्ति हो सकती है। अहिंसा को अपनाकर ही मनुष्य, समाज, राष्ट्र और सकल संसार सुखी और समृद्ध हो सकता है। इसलिये महर्षि पतंजलि ने यमों में सबसे प्रथम अहिंसा को स्थान दिया है।

२. तनाव से मुक्ति:- हम प्रतिदिन देखते हैं कि आज ऊँचे-ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित रहने वाले लोग भी अत्यधिक समृद्धि को पाकर भी तनाव युक्त जीवन बिता रहे हैं। परिवार में टूटन बढ़ रही है, परिवार के लोग एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते प्रत्येक व्यक्ति अनजाने भय से त्रस्त है, इसका कारण क्या है? योग की भाषा में इसका कारण है असत्य और चोरी का आचरण, मनुष्य अल्पसमय में थोड़े से परिश्रम में अधिक से अधिक धनोपार्जन करने की होड़ में लगा है। धनोपार्जन करने के लिये वह असत्य, अन्याय, चोरी, रिश्वत खोरी आदि भ्रष्ट आचरण का सहारा लेता है।

धन तो वह अर्जित कर लेता है किन्तु जिस सुख और शान्ति के लिये वह यह सब करता है, वह उसे नहीं मिलती। वह पहले से भी अधिक तनाव में रहने लगता है। परिणाम यह होता है कि मधुमेह, अनियमित रक्तचाप, घबराहट, हृदय रोग आदि घातक बीमारियाँ उसे घेर लेती हैं और समय से पहले ही काल-कवलित हो जाता है।[3] योगसूत्र में महर्षि पतंजलि ने सत्य और अस्तेय के आचरण को योग साधना के लिये अनिवार्य बताया हैं। सत्याचरण और अस्तेय के पालन से मनुष्य तनाव से मुक्त रह सकता है। सत्याचरण करने वाले की समस्त क्रियायें सफल होती हैं।[4] और अस्तेय के पालन से वह अपरिमित रत्नों का स्वामी बन सकता हैं।[5] असफलता और निर्धनता ही तनाव को जन्म देती है। सत्य और अस्तेय रूप औषधि के सेवन से मनुष्य तनावमुक्त जीवन जी सकता है।

2. न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन। अवैरेण तु शाम्यन्ति एष धर्मः सनातन।। -स्फुट
3. अहिंसा प्रतिष्ठायाम् तत्संनिधौ वैरत्याग:।। -यो0 सू0 2/35
4. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।। 2/36।।
5. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।। 2/36

३. **बल की प्राप्तिः**- आज समाज में दुर्बल शरीर, मुरझाए चेहरे और उत्साह रहित हृदय वाले युवक सर्वत्र देखने को मिलते हैं। ऐसे युवाओं की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। भौतिकवादी संस्कृति ने उनके शरीरों को आराम पसन्द, आलसी, अकर्मणीय और निरुत्साही बना दिया और मस्तिष्क में विभिन्न कुसंस्कार और विकृतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। ब्रह्मचर्य की उपेक्षा से आज समाज घातक रोगों के चंगुल में इस प्रकार खो चुका है कि चिकित्सा विज्ञान चाहे कितना भी विकास कर ले वह समाज को रोगमुक्त नही कर सकता। क्या कारण है कि आज चिकित्सा विज्ञान के निरन्तर प्रगति करने पर भी रोगों और रोगियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। जनसंख्या के विस्फोट ने विश्व की आर्थिक दशा को तहस-नहस कर दिया है, इस सबका कारण यह है कि हमने अपने प्राचीन ब्रह्मचर्यव्रत के आदर्श को उपेक्षित कर दिया है। शारीरिक और मानसिक रोगों को दूर करने का एक ही उपाय है- ब्रह्मचर्य व्रत का पालन। ब्रह्मचर्य के सेवन से मनुष्य, समाज और राष्ट्र बलशाली हो सकता है। इसलिये पतंजलि ने योग-साधना के लिये ब्रह्मचर्य के पालन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनकी मान्यता है कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम की वृद्धि होती है।[6]

४ **अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ता**- विज्ञान ने आज के युग में पर्याप्त प्रगति की है। किन्तु जनसंख्या के विस्फोट ने उस समस्त प्रगति पर पानी फेर दिया है। देश की अर्थव्यवस्था डगमगा रही है। हमारा देश ऋण के भार से आक्रान्त है। मनुष्य की आर्थिक प्रगति नहीं हो रही है। उसे चिन्ता आज की नहीं है अपितु वह भविष्य के लिये अर्थ का संग्रह करने में लगा है। परिग्रह की भावना ने धनवानों को अधिक धनवान् बना दिया है, निर्धनों को और अधिक निर्धन बना दिया। यद्यपि अर्थ का संग्रह अनुचित नहीं है, किन्तु परिग्रह अथवा अर्थसंग्रह को लक्ष्य बना लेना व्यक्ति, समाज और देश तीनों के लिये घातक है। यही कारण है कि प्रगति के नये-नये साधनों का उपयोग करने पर भी हम आर्थिक मोर्चे पर पिछड़ गए हैं। इसलिये महर्षि पंतजलि ने अपरिग्रह का सन्देश दिया है। अपरिग्रह अर्थात् विषय-भोग की वस्तुओं का संग्रह न करना एक ऐसा यम है जो योग साधना के लिये तो उपयोगी है ही, आर्थिक प्रगति के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है। जब प्रत्येक व्यक्ति उतने ही धन का संग्रह करेगा जितने धन की उसे आज आवश्यकता है तो समाज में धन की विषमता अनायास ही दूर हो जायेगी। मनुस्मृति में कहा गया है कि जितने अन्न से पेट भर जाये उतने ही धन पर मनुष्य का अधिकार है। उससे अधिक जो संग्रह करता है वह चोर है, राजा की ओर से उसको दण्ड दिया जाना चाहिये।[7]

भाष्यकार व्यासदेव ने परिग्रह के पाँच दोष बताये हैं- अर्जन, रक्षण, क्षय, संग ओर हिंसा। पहले तो धन के अर्जन में ही कष्ट होता है। किसी प्रकार अर्जित कर भी लिया

6. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।। -यो0 सू0 2/38

7. यावद् भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति।। -स्फुट

जाये तो उसकी रक्षा की समस्या आती है। धन की कितनी भी रक्षा की जाये, उसका क्षय एक दिन तो होना ही है। धन के संग्रह में संग अर्थात् आसक्ति उत्पन्न होती है जो मनुष्य को दुःख की ओर ले जाती है। धन संग्रह के लिये हिंसा भी अनिवार्य है क्योंकि दूसरों की हिंसा किये विना अधिक धन का संग्रह सम्भव ही नही है। ये पाँच दोष ही समाज की आर्थिक दशा को नष्ट करते हैं। इसलिये अपरिग्रह का पालन योग-साधना के लिये उपयोगी है ही, आर्थिक प्रगति भी इसी पर अवलम्बित है।

महर्षि पंतजलि ने अपरिग्रह की स्थिरता होने पर जन्म कथा का ज्ञान इसका फल बताया है।[८] यह फल अपरिग्रह का अदृष्ट फल है। यह एक अध्यात्म पक्ष है फिर भी यदि हम इस पक्ष को छोड़ दें तो भी इसका दृष्ट फल हम सभी प्राप्त कर सकते हैं। इसका दृष्ट फल है आर्थिक विषमता की समाप्ति। आर्थिक विषमता समाज को दुर्बल और असन्तुष्ट बनाती है। अपरिग्रह के पालन से आर्थिक विषमता को दूर करके समाज को स्वस्थ और समृद्ध बनाया जा सकता है।

इसी प्रकार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान जहाँ मनुष्य के चरित्र को अन्दर से समृद्ध बनाते हैं, वहीं व्यक्ति और समाज दोनों को परिपूर्ण करते हैं। उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान सन्दर्भ में योगाभ्यास जितना उपादेय है, उतना पहले कभी नहीं था। योग की उपादेयता किसी भी काल में न तो अप्रासंगिक थी और न कभी रहेगी।

डॉ0 योगेश्वरदत्त
योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तरांचल

८. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः।। -यो0सू0 2/39

वैज्ञानिक दृष्टि में मानव चेतना

दर्शन की तरह विज्ञान के क्षेत्र में भी मानवीय चेतना का विषय गहन शोध अध्ययन एवं अन्वेषण का विषय रहा है। आधुनिक विज्ञान की पृष्ठभूमि में हम इन प्रयासों को विगत दो-तीन शतकों में सक्रिय देखते हैं। जबकि भारतीय विज्ञान की पृष्ठभूमि में ये प्रयास अतिप्राचीन काल से क्रियान्वित हुए मिलते हैं। ज्ञान की धाराओं की तरह विज्ञान की विविध धाराओं का उद्भव एवं विकास हम वैदिक युग में हुआ देखते हैं।

प्राचीन भारतीय विज्ञान की दृष्टि में मानव चेतना

मानवीय चेतना के संदर्भ मे जो गम्भीर अध्ययन-अन्वेषण वैदिक युग की पुरातनता में हुए इनको हम प्रमुखतया आयुर्विज्ञान और तंत्र विज्ञान की विविध धाराओं में विभक्त कर सकते हैं। इनमें मानवीय चेतना के विविध पक्षों का रहस्योद्घाटन अद्भुत सूक्ष्म दृष्टि से हुआ है, जिसकी वैज्ञानिकता एवं विलक्षणता के समक्ष आधुनिक विज्ञान भी नतमस्तक है।

मानव चेतना का स्वरूप

मानव-स्वास्थ्य के यक्ष प्रश्न पर समग्र दृष्टि से विचार आयुर्विज्ञान की पुरातन चिकित्सीय पद्धति में मिलता है। मानवीय चेतना (शरीर और मन) के महत्त्वपूर्ण एवं गूढ़ विषय पर प्रकाश डालने वाले आयुर्वेद के प्रवर्तक ऋषि सम्भवत: प्राणि-वैज्ञानिक थे।[1] वैदिक युग में विकसित इस पद्धति की प्राचीनता को हम जीवन के विज्ञान के रूप में 5000 वर्ष पूर्व तक देख सकते हैं।[2] हालाँकि यह अपने दार्शनिक विचारों के लिए सांख्य एवं वैशेषिक दर्शन का ऋणी रहा है, किन्तु फिर भी मानवीय चेतना के विषय में इसकी अपनी मौलिक एवं भिन्न दृष्टि भी रही है।

सांख्य दर्शन की परम्परा में यहाँ भी पुरुष या आत्मा ही चेतना का मूल स्रोत है। पुरुष या आत्मा ही शाश्वत् रूप से चैतन्य है। यह शुद्ध, बुद्ध व स्वतंत्र है। यही अन्तिम ज्ञाता और दृष्टा है।[3] यह देश-काल व कार्य-कारण से परे का सत्य है। यह समस्त मानसिक क्रियाओं से अतीत का सत्य है। तब मन तमस् के प्रभाव में होता है, तब भी यही आत्मा हमारी जाग्रत, सुषुप्त या स्वप्न की अवस्था का साक्षी होता है।[4]

आत्मा का अस्तित्त्व बुद्धि के द्वारा प्रतिभाषित होता है। बुद्धि स्वयं में एक अचेतन प्रक्रिया है। चेतन आत्मा ही बुद्धि के अचेतन भाग से प्रतिबिम्बित होती है। बुद्धि त्रिगुणात्मक

1. G.P. Dubey-Science and Philosophy of Indian medicine, P. 33
2. Dr. David Frawley-Ayurveda and the Mind, P. 33
3. चरक संहिता (शरीर-स्थान) -1/16
4. सांख्य तत्त्व कौमुदी-16/20

प्रकृति के विकास का प्रथम उत्पाद है। प्रकृति समस्त मनो-भौतिक जगत् उत्पत्ति स्थल है।[5] प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यवस्था का नाम है। यह स्वयं में अचेतन है। इससे जगत् की उत्पत्ति चेतन पुरुष (आत्मा) की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होती है। चेतन पुरुष के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति की साम्यता भंग होती है और इससे विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत बुद्धि, अहंकार और मन एवं जीवम तथा पाँच महाभूतों का निर्माण होता है।[6] सांख्य दर्शन के अनुसार इनमें बुद्धि, अहंकार और मन मानवीय चेतना के मनोवैज्ञानिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। आन्तरिक अवयवों के रूप में इन्हें अन्त:करण भी कहा जाता है।[7]

बुद्धि

यह प्रकृति के विकास का प्रथम उत्पाद है। यह प्रमुख मानसिक यंत्र है। एक ओर यह अन्दर अहंकार और मन (आन्तरिक अवयवों) को निर्यंत्रित करता है और बाहर इन्द्रियों पर नियंत्रण करता है। बुद्धि का प्रमुख कार्य निश्चय और संकल्प करना है। यह भूतकालीन अनुभवों और स्मृतियों का संग्राहक भी है।[8]

अहंकार

इसका क्रम बुद्धि के बाद आता है। यह वैयक्तिकता का सिद्धान्त है। यह स्व चेतनता का द्योतक है। सांख्य दर्शन के अनुसार, समस्त व्यक्तिपरक (Subjective) और वस्तुपरक (objective) जगत् इसी से उत्पन्न होता है। अहंकार में सत्त्व की प्रधानता से मन सहित ग्यारह इन्द्रियों का उद्भव होता है और तमस् की प्रधानता के कारण अहं से पाँच तंन्मात्राओं का उद्भव होता है।[9] अहंकार का प्रमुख कार्य स्वप्रेम या स्वबोध है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहंकार सबसे महत्त्वपूर्ण पक्षों में एक है। अहंकार के क्षय पर आयुर्विज्ञान में दु:ख से मुक्ति एवं स्वतंत्रता की दृष्टि में बल दिया गया है।[10]

मन

सांख्य दर्शन के अनुसार- मन, अहंकार का उत्पाद है। एक ओर इसका आत्मा से सीधा सम्बन्ध है और दूसरी ओर शरीर को प्रभावित करता है। इस कारण यह आयुर्वैदिक चिकित्सा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है।[11] मन के विषय पर यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला

5. सांख्यतत्त्व कौमुदी -19/20
6. सुश्रुत संहिता शरीर स्थान-1/4, सांख्यतत्त्व कौमुदी-21
7. सुश्रुत संहिता 1/3 चरक संहिता-17/35, सांख्य तत्त्व कौमुदी-33
8. सांख्यकारिका -23, सांख्य सूत्र -2/13, सांख्य भाष्य -8/12
9. सांख्यतत्त्व कौमुदी-23,24, सांख्य सूत्र-1/6
10. सांख्यकारिका -25, चरक संहिता शरीर स्थान-1/65, सांख्यतत्त्व कौमुदी-24
11. आचार्य राजकुमार जैन-आयुर्वेद दर्शन, पृ. 67

गया है। इसमें प्रस्तुत मन का विवरण इस तरह से हैं।

मन की अतीन्द्रिय सत्ता

आयुर्वेद साहित्य में मन, चित्त, सत्त्व आदि शब्द इसके पर्याय रहे हैं।[12] सांख्य एवं वैशेषिक दर्शन से प्रभावित होने के बावजूद इसकी अपनी भिन्न एवं मौलिक अवधारणा रही है। यह मन को इन्द्रिय नहीं मानता।[13] चक्रपाणी का कहना है कि मन के ऐसे कार्य हैं, जो इन्द्रियों के द्वारा सम्पादित नहीं हो सकते। अत: वे इसे अतीन्द्रिय कहते हैं।[14] चरक ने इसके अतीन्द्रिय होने के निम्न तीन प्रमाण बताये हैं- 1. यह अन्य इन्द्रियों की तरह मात्र बाह्य ज्ञान का कारण नहीं है, बल्कि आन्तरिक ज्ञान का भी कारक है। 2.मन अन्य इन्द्रियों का नियंत्रक है।[15] यही विचार वागभट्ट के हैं।[16] मन की सहायता के विना इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर सकती। इसलिए मन को ज्ञानेन्द्रियों का उद्भासक और कर्मेन्द्रियों का प्रयोजक कहा गया है।[17]

आत्मा द्वारा चेतन मन की जड़ सत्ता

अतीन्द्रिय होते हुए भी चरक के अनुसार मन जड़ है।[18] अन्य द्रव्यों की भाँति मन की उत्पत्ति भी महाभूतों से होने के कारण यह भौतिक है। अत: मन भी प्रकृति की तरह सत्त्व, रज और तम गुणों से युक्त है। तदनुरूप तीन गुणों के अनुरूप सत्त्व से ज्ञान, रजस् प्रवृत्ति और तमस् से अज्ञान आदि प्रत्येक मन में दृष्टिगोचर होते हैं।[19] जड़ होते हुए भी मन, आत्मा की सक्रियता के कारण चैतन्य होता है।[20]

मन का सूक्ष्म स्वरूप

चरक संहिता में इसे बाह्य इन्द्रियों की पकड़ से परे सूक्ष्म आणविक प्रकृति का बताया गया है।[21] इसी तरह अणुत्त्व (सूक्ष्मत्त्व) एवं एकत्त्व (एक होना) इसके गुण बताये गये हैं।[22] मन एक ही है अनेक नहीं, क्योंकि एक ही मन एक ही समय में अनेक विषयों

12. चित्तम् चेत: हृदयम् हृत् मानसम्-अमरकोश, अतीन्द्रियं पुनर्मन: सत्त्वसंज्ञक चेत् इत्याहुरेके। च.सू.अ. 8-4
13. डॉ. शान्ति प्रकाश आत्रेय -योग मनोविज्ञान,पृ. 33
14. चक्रपाणी, चरक संहिता सूत्र स्थान, 1-22
15. चरक संहिता (शरीर स्थान) 1-19
16. अष्टांग संहिता (शरीर स्थान)5-45
17. मन: पुर: सराणि च इन्द्रियाणि अर्थग्रहण समर्थानि भवन्ति।-च.सू.अ. 8-7
18. अचेतनत्वाच्च मन: क्रियावदामि नोच्यते। (च.शा. 1/76)
19. आचार्य राजकुमार जैन-आयुर्वेद दर्शन, पृ. 68 (च. सू. 8-5)
20. चा. शा., 152-153
21. चरक संहिता, शरीर स्थान, 1-19
22. अणुत्त्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनस: स्मृतौ।

में नहीं जा सकता, इसलिए सब इन्द्रियों की एक साथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[23] यही तथ्य कश्यप सूत्र[24] में व्यक्त किया गया है।

मन की स्थिति

मन की स्थिति के संदर्भ में आयुर्वेद में दो मत रहे हैं। चरक के अनुसार यह हृदय में स्थित है।[25] सुश्रुत भी हृदय स्थान निर्धारित करते हैं।[26] कश्यप का भी यही मत है।[27] इनके विपरीत भेल मन का स्थान मस्तिष्क में और चित्त का स्थान हृदय में मानते हैं।[28] इस तरह से मन के स्थान के सम्बन्ध में विरोधाभासी मत जान पड़ते हैं, किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर तथ्य स्पष्ट हो जाता है। मन का मूल स्थायी स्थान हृदय है, इस तथ्य को सभी आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इस हृदय स्थान को शारीरिक हृदय मान बैठना भूल होगी, वस्तुत: यह हमारे अस्तित्व का गहनतम स्तर है।[29] इसके अतिरक्त सभी इन्द्रियों का केन्द्र मस्तिष्क है। चरक ने सिर को समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठान के रूप में निरूपित किया है।[30] इस प्रकार यहाँ विषयों के स्वरूप का निर्णय एवं इन्द्रियों की प्रवृत्ति हेतु आज्ञा प्राप्ति होती है। इस तरह मन हृदय से मनोवह स्रोतों के द्वारा मस्तिष्क में आता है और वहाँ से समस्त इन्द्रियों को नियंत्रित करता है। अत: मन का नियंत्रण केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्क है। मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है एवं मूल स्थान हृदय है।[31] अमेरिका के वैदिक मनीषी डॉ फ्राले के शब्दों में मस्तिष्क बाह्य मन का केन्द्र है, जो इन्द्रियों के माध्यम से काम करता है और हृदय अन्त:मन का केन्द्र है, जिसकी भावप्रकृति इन्द्रियों का अतिक्रमण करती है।[32]

मन का कार्य

मन जड़ पदार्थ होने पर भी कार्य कैसे करता है? महर्षि चरक कहते हैं-मन अचेतन होने पर भी क्रियाशील है। उसको चेतना देने वाला आत्मा है। जड़ मन कार्य करने की शक्ति आत्मा से प्राप्त करता है। सचेतन होने से आत्मा कर्त्ता कहा जाता है और

23. च.सू., 8-20
24. क. सू., पृ. 45
25. चरक संहिता सूत्र स्थान, 30-4
26. हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विराति देहिनाम्। सुश्रुत संहिता, शरीर स्थान, 4-34
27. कश्यप संहिता चिकित्सा, 8-6
28. भे. सं., पृ. 149
29. Dr. David Frawley-Ayurveda and the Mind, p. 51
30. शिराति इन्द्रियाणि, इन्द्रिय प्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गमस्तय: संश्रितानि, च. सि., 9-4
31. आचार्य राजकुमार जैन-आयुर्वेद दर्शन, पृ.78
32. Dr. David Frawley-Ayurveda and the Mind, p. 51

अचेतन होने से मन कार्य करने पर भी कर्त्ता नहीं कहा जाता।[33] चक्रपाणी के अनुसार मन के प्रमुख कार्य हैं-इच्छा, द्वेष, सुख-दु:ख और प्रयत्न।[34] चरक के अनुसार चिंतन, विचार, तर्क ध्यान, संकल्प, इन्द्रियों को नियंत्रण करना, अपने आपको स्वयं नियंत्रित करना; ये सब मन के कार्य हैं।[35]

इस तरह आयुर्विज्ञान के सूक्ष्मदर्शी आचार्यों के चिंतन में, मन के स्वरूप, गुण, धर्म, स्थान एवं कार्यों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

मन के अतिरिक्त मानवीय चेतना के समग्र प्रतिनिधि व्यक्तित्व पर आयुर्वेद की अवधारणा भी उल्लेखनीय है-

आयुर्विज्ञान में व्यक्तित्व की मनोजैविक अवधारणा

आयुर्वैदिक चिकित्सा विज्ञान मानवीय व्यक्तित्व पर विविध कोणों से विचार करता है। प्रमुखत: इसका दृष्टिकोण मनोकायिक रहा है।[36] इस संदर्भ में आयुर्वेद का 'त्रिदोष' सिद्धान्त प्रख्यात है।[37] जैविक आधार पर ये हैं- वात, पित्त कफ।[38] इनका आपसी समायोजन और संतुलन व्यक्ति को स्वस्थ रखता है।[39] तथा इनका असंतुलन रुग्णता का कारण बनता है।

इनकी प्रधानता के अनुरूप व्यक्तित्व के शारीरिक एवं मानसिक गुण-दोषों का विस्तृत विवरण आयुर्वैदिक साहित्य में किया गया है। यहाँ मानसिक विवेचन ही संगत होगा। वात प्रधान व्यक्ति के मानसिक गुण इस तरह से बताये गये हैं।[40] लघु स्मृति, दुर्बल इच्छा शक्ति, मानसिक अस्थिरता, साहस हीनता, असहिष्णुता, आत्मविश्वास हीनता और तर्क न्यूनता। ये व्यक्तित्व चिड़चिड़े एवं क्रुद्ध स्वभाव के होते हैं और साथ ही वे प्रसन्नचित्त भी होते हैं। पित्त प्रधान व्यक्तित्व की विशेषतायें इस तरह से हैं- मध्यम स्मृति, मध्यम इच्छा शक्ति, मध्यम मानसिक स्थिरता और मध्यम सहिष्णुता।[41] कफ प्रधान व्यक्तित्व की विशेषतायें इस तरह से हैं- सशक्त स्मरण शक्ति, दृढ़ इच्छा शक्ति, उच्च साहस एवं आत्म विश्वास, सहिष्णुता और गम्भीरता।[42] इन तीन मूलभूत भेदों के आधार पर आयुर्वेद में व्यक्तित्व के सात प्रकार बताये गये हैं- वातिक, पित्तिक, कफज, वात-पित्तिक, वात-कफज,

33. चरक संहिता, शरीर स्थान, 1-8
34. चक्रपाणी-चरक संहिता सूत्र स्थान, 1-49
35. चरक संहिता, शरीर स्थान,1-21
36. K.N. Udupa &R.H. Singh-Science &Philosophy of Indian Medicine, p. 85
37. चरक संहिता विमान स्थान -8/105-106
38. चरक संहिता शरीर स्थान-4/34
39. वही, 9/4
40. चरक संहिता, विमान स्थान -8/109, सुश्रुत संहिता शरीर स्थान-4/64, 67
41. चरक संहिता, विमान स्थान -8/108, सुश्रुत संहिता शरीर स्थान -4/68
42. वही-8/107 वही -4/72, 76

पित्त-कफज और समदोषज।[43]

जैविक आधार के अतिरिक्त आयुर्वेद में विशुद्ध मानसिक आधार पर भी मानस प्रकृति के रूप में व्यक्ति के स्वरूप पर विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत मन के मूलभूत गुण हैं- सत्व, रजस् और तमस्।[44] इन्ही के अनुरूप व्यक्तित्व को सात्विक, राजसिक और तामसिक वर्गों में विभाजित किया गया है।

सात्विक व्यक्ति के गुण इस तरह से हैं-दयालु, उदार, सहिष्णु, सत्यनिष्ठ, धार्मिक, आस्तिक, बुद्धिमान्, मेधावी, साहसी और अनासक्त।[45] श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने व्यक्तित्व को सत्त्व, रज एवं तम गुण के आधार पर विभाजित किया है। उनके शब्दों में-सत्त्व गुण प्रधान व्यक्तित्व निर्मल होता है। सत्त्व गुण का सम्बन्ध सुख, ज्ञान और वैराग्य से हैं। सत्त्व गुण से प्रेरित होकर व्यक्ति ज्ञानार्जन करता है और कालान्तर में आत्म ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जो कि मोक्ष का साधन है।[46] वस्तुतः वे सफलता, असफलता का ध्यान न रखते हुए पूर्ण उत्साह और धैर्य के साथ अपने कार्य को करते हैं। उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान होता है। वे शुभ और अशुभ कर्मों को पहचानते हैं। उन्हें बन्धन और मुक्ति का भेद ज्ञात होता है। वे सदैव विवेकपूर्ण कार्य करते हैं तथा निरन्तर मुक्तावस्था की ओर अग्रसर रहते हैं।[47]

राजसिक प्रकृति प्रधान व्यक्ति का स्वरूप आयुर्वैदिक दृष्टि में इस तरह से हैं- अधीर, अभिमानी, असत्यभाषी, अहंकारी, आत्म सम्मान के लिए उद्विग्न, अतिप्रसन्न, अतिकामुक, क्रोधी और दुःखी।[48] गीता के अनुसार-रजोगुण प्रधान व्यक्ति में कामना और आसक्ति पायी जाती है। रजोगुण से प्रेरित व्यक्ति कर्मों के फल की प्राप्ति के लिए अधिक चिंतित रहता है।[49] उनके सभी कार्य दम्भ और रागयुक्त होते हैं। वे सफलता और विफलता से सुखी और दुखी होते हैं। वे लोलुप, अशुद्ध और दूसरों को कष्ट देने वाले होते हैं। वे उचित, अनुचित, धर्म, अधर्म तथा कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य के भेद को विकृत बुद्धि होने के कारण ठीक-ठीक नहीं जान पाते।[50]

तामस प्रकृति व्यक्ति के लक्षण इस प्रकार से हैं- नास्तिक, अधार्मिक, बुद्धिहीन, अज्ञानी, क्रोधी और आलसी।[51] गीता के अनुसार तमोगुण प्रधान व्यक्ति में आलस्य, प्रमाद

43. वही -8/106 वही -4/62-63
44. चरक संहिता, शरीर स्थान-4/37
45. वही-4/38,45
46. भगवत् गीता -14/6
47. डॉ शन्ति प्रकाश आत्रेय, योग मनोविज्ञान, पृ. 296
48. चरक संहिता शरीर स्थान -4-/46-53
49. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा संगसभुद्भवं। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म संगेन देहिनाम्।। भगवद् गीता-14/7
50. चरक संहिता शरीर स्थान -4/53-56
51. डॉ. शन्ति प्रकाश आत्रेय, योग मनोविज्ञान, पृ. 216

ओर निद्रा के प्रति विशेष आकर्षण पाया जाता है।[52] यह निम्नतम स्तर का व्यक्तित्व है।[53] उनकी बुद्धि विपरीत दिशा में ही कार्य करती है। वे सदैव उल्टा ही सोचते हैं। उनकी धारणा हर विषय के प्रति गलत होती है। वे दुष्ट बुद्धि तथा नीच प्रकृति के होते हैं।

इस तरह आयुर्वेद मानवीय चेतना के समग्र रूप व्यक्तित्व को मानस प्रकृति के सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों के आधार पर वर्णित करता है।

तंत्र विज्ञान में मानव चेतना

वैदिक ऋषियों ने अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति पर जो बहुमूल्य प्रयोग किया तथा प्रक्रियाएँ विकसित की, तंत्र उन सबमें बेशकीमती ठहराया जा सकता है। तंत्र का उद्गम हम वेदों में खोज सकते हैं। ऋग्वेद का देवी, सूक्त, वैदिक ऋषि विश्वामित्र द्वारा किये गये बला-अतिबला सावित्री महाविद्या के प्रयोग इसके आदि प्रमाण है। आदि शंकराचार्य, नागार्जुन, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ कीनाराम, वामाखेपा, कमलाकान्त, रामप्रसाद, रामकृष्ण परमहंस आदि इसके मध्य एवं आधुनिक युग के निष्णात आचार्य है।

तंत्र स्वयं में एक स्वतंत्र विज्ञान है। प्रकृति की शक्तियों पर काबू पाकर उन्हें इच्छानुकूल वशवर्ती बनाना इस विद्या का प्रधान कार्य है। प्रकृति के आकर्षण-विकर्षण से जगत् के पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है, उत्पत्ति, स्थिति और लय के परिणाम उपस्थित होते रहते हैं। विज्ञान द्वारा परमाणु की इन स्वाभाविक प्रक्रियाओं को बदलकर अपने अनुकूल बनाया जाता है। तंत्र विज्ञान द्वारा अपने अंदर की विद्युत् शक्ति को इतना विकसित कर लिया जाता है कि प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं को अपनी इच्छानुसार ढाल सकते हैं।[54]

तंत्र का सीधा सम्बन्ध चेतना, चित् शक्ति से हैं। यह साधना पंच कोषों को पार करके एवं चक्र भेदन कुण्डलिनी जागरण की उच्चतम प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त करती है। अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश की ओर बढ़ते हुए चलना इसका उद्देश्य है। तंत्र विज्ञान में मानवीय चेतना को पंच कोष, सूक्ष्म शरीर में स्थित षट्चक्र, ग्रन्थियों, सूक्ष्म नाड़ियों के समूह व कुण्डलिनी शक्ति के रूप में समझा जा सकता है। तंत्र के अनुसार मानव चेतना के पाँच स्तर, पाँच कोष इस तरह से हैं- अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश।

'जिस प्रकार प्याज की गाँठ में एक के बाद एक पर्त निकलते हैं, जिस प्रकार केले के तने को खोलने पर उसमें एक के भीतर एक कलेवर लिपटे हुए हैं। उसी तरह जीवात्मा (व्यक्ति) के ऊपर भी एक के बाद एक क्रमशः पाँच आवरण है। इनमें सबसे ऊपर दिखाई देने वाली पर्त का नाम है- अन्नमय कोश। अन्नमय कोश का अर्थ है- इन्द्रिय

52. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।। भगवद् गीता-14/8
53. डॉ रामनाथ शर्मा, भारतीय मनोविज्ञान, पृ. 216
54. आचार्य श्रीराम शर्मा

चेतना, प्राणमय कोश अर्थात् जीवनी शक्ति, मनोमय कोश अर्थात् विचारशीलता, विवेकबुद्धि, विज्ञानमय कोश अर्थात् भाव प्रवाह, आनन्दमय कोश अर्थात् आत्मबोध-आत्मस्वरूप की स्थिति। यह पाँच (मानव) चेतना के स्तर है।"[55]

इनका संक्षिप्त विवरण इस तरह से हैं-

१. **अन्नमय कोश** का संचालन करने के लिए नाड़ियों का समूह है। नाड़ियों के ये समूह स्थूल और सूक्ष्म, दोनों प्रकार के हैं। इन नाड़ियों के माध्यम से अन्नमय कोश में प्राणशक्ति का संचरण होता है।

२. **प्राणमय कोश** मनुष्य का सूक्ष्म शरीर है, जो ऊर्जा से निर्मित है। शक्ति की एक अभिव्यक्ति प्राणमय शरीर में दिखाई देती है। तंत्रविज्ञान के अनुसार प्राणमय शरीर लाल रंग का है। अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय कोश या सूक्ष्म शक्ति की अभिव्यक्ति है। प्राणमय कोश में शक्ति का संचरण सूक्ष्म नाड़ियों के माध्यम से होता है।

३. **मनोमय कोश** वस्तुत: मन, बुद्धि ओर चित्त से बना है। यह चेतना की स्थूल अभिव्यक्ति का प्रतीक है जो चेतना का उन जगतों से सम्बन्ध स्थापित करती है। मनोमय के अन्तर्गत मन की विभिन्न स्थितियों, विभिन्न भौतिक और बौद्धिक स्तरों का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत चेतना की ऐसी अवस्थाओं का भी वर्णन है, जो भोग के द्वारा, इन्द्रिय सुख के द्वारा आकर्षित हो जाती हैं।

४. **विज्ञानमय कोश** अतीन्द्रिय शरीर इसमें ज्ञान और विद्या की अनुभूति होती है। अनेक विद्वान् विज्ञानमय कोश का तात्पर्य बुद्धि से, बौद्धिक प्रगति या बौद्धिक विकास से लगाते हैं, किन्तु वास्तव में यह बौद्धिक है नहीं। बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् के अनुभवों को पार कर मानव चेतना को जिस सूक्ष्म अवस्था में स्थापित किया जाता है, वही विज्ञानमय की अवस्था है। अतीन्द्रिय होते हुए भी इन्द्रिय आकर्षण के मध्य में रहना विज्ञानमय की अवस्था है।

५. **आनन्दमय कोश** का सम्बन्ध परा अनुभूति से हैं। जब मनुष्य समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है तब इस अवस्था को प्राप्त करता है। ये पाँचों शरीर एक-दूसरे से अभिन्न हैं तथा नाड़ियों, प्राण और चक्रो के माध्यम से अन्तर्ग्रंथित है।

तंत्रों में मानवीय चेतना का केन्द्र मस्तिष्क माना गया है। उन्होंने प्रमस्तिष्क मेरु-तंत्र (Cerebro spinal system) के द्वारा समस्त चेतना का विवेचन किया है। ब्रह्मरन्ध्र को जीव का स्थान बनाया है। मेरुदण्ड (Vertebral column) में सुषुम्ना, ब्रह्मनाड़ी और मनोब्रह्म नाड़ियाँ हैं। स्वत: संचालित स्नायुमण्डल के अन्तर्गत ऐसे बहुत से नाड़ी-गुच्छों के केन्द्र (Ganglionic Center) तथा जालिकाएं (Plexures) हैं जिन्हें चक्र व पद्म का

55. आचार्य श्रीराम शर्मा-महामानववों की ढलाई करने वाला उच्चस्तरीय मनोविज्ञान, अखण्ड ज्योति, वर्ष 54, अंक 2, पृ. 24

नाम दिया गया है। जहाँ से नाड़ियाँ, शिरायें और धमनियाँ समस्त शरीर में व्याप्त हो जाती हैं। इस प्रधान तंत्र में हमें स्नायु मण्डल तथा उसके अन्तर्गत आने वाले स्नायु गुच्छों, मस्तिष्क, मेरुदण्ड आदि का विवेचन प्राप्त होता है।[56] इनमें सूक्ष्म नाड़ी चक्र आदि का वर्णन प्रस्तुत है।

नाड़ियाँ

नाड़ियाँ सामान्यत: दो भागों में विभाजित हैं- स्थूल और सूक्ष्म। तंत्र के अन्तर्गत पांचों शरीर को संगठित रखने के लिए साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों का वर्णन मिलता है। इन साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों का तात्पर्य हमारे शरीर की धमनियाँ, नसों या शिराओं से नहीं वरन् उन प्रवाहों, मार्गो या वाहिकाओं से हैं, जिनके, द्वारा प्राण, अन्तश्चेतना और स्थूल और सूक्ष्म ऊर्जाओं का संचरण होता है। शिव संहिता में साढ़े तीन लाख नाड़ियों का उल्लेख है।[57] गोरक्ष पद्धति में 72 हजार नाड़ियों का उल्लेख मिलता है।[58] इन 72 हजार नाड़ियों में से 72 नाड़ियाँ मुख्य मानी जाती है। पुन: 72 नाड़ियों में भी 18, अट्ठारह में 10 और दस में 3 नाड़ियाँ क्रमश: प्रमुख मानी गई है। इन तीन नाड़ियों में एक नाड़ी प्रमुखतम मानी गई है, उसे ब्रह्म नाड़ी कहते हैं, जो सुषुम्ना मार्ग के भीतर अवस्थित है।

प्रमुख तीन नाड़ियों को इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के नाम से जाना जाता है। योग में **पिंगला नाड़ी** प्राणशक्ति प्रवाह का प्रतीक है। **इड़ा नाड़ी** स्थूल और सूक्ष्म चित् शक्ति के प्रवाह का प्रतीक है तथा **सुषुम्ना** इन दोनों के भीतर संतुलित प्रवाह का लक्षण या परिणाम है। शिव संहिता में सुषुम्ना के आधार में स्थित खोखले स्थान को ब्रह्मरन्ध्र कहा गया है।[59] यह संगम स्थल सुषुम्ना शीर्ष (Medulla-abongala) में प्रतीत होता है। इसलिए सुषुम्ना शीर्ष का शरीर में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब इड़ा व पिंगला नाड़ियों में क्रमश: चित् और प्राण शक्तियों का प्रवाह होने लगता है, तब सुषुम्ना की जागृति होती है। सुषुम्ना की जागृति के बाद ही ब्रह्म नाड़ी जागृत होती है।

ब्रह्मनाड़ी और कुण्डलिनी शक्ति

तंत्र के अनुसार इन नाड़ियों की जागृति और आन्तरिक शक्ति के उत्थान से, जो अनुभूति होती है और जिसकी कल्पना मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति के रूप में होती है, वह वस्तुत: ब्रह्मनाड़ी की जागृति का प्रतीक है। इड़ा पिंगला और सुषुम्न की जागृति के बाद भी जब तक सुषुम्न में प्रबलता नहीं आती, तब तक ब्रह्मनाड़ी जागृत नहीं होती, उसमें उत्तेजना नहीं उत्पन्न होती। जिस दिन ब्रह्मनाड़ी में उत्तेजना उत्पन्न हो जाय, सम्पूर्ण शरीर में विद्युत् तंरग की तरह शक्ति उत्थान होता है। इसे ही कहते हैं- कुण्डलिनी

56. डॉ. शान्तिप्रकाश आत्रेय-योग मनोविज्ञान, पृ. 346-47
57. शिव संहिता-2/13
58. गोरक्ष पद्धति-1/25
59. शिव संहिता-5/162

शक्ति। साधना की परिपक्वता की स्थिति में प्राणोत्थान के कारण मूलाधार से सहस्त्रार की ओर विद्युत् तरंग की अनूभूति को ही कुण्डलिनी का ऊर्ध्वगमन कहा गया है। ऐसी सर्पिणी रूप की कोई शक्ति सुप्तावस्था में शरीर में स्थित नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों ने इसे आलंकारिक भाषा में प्रस्तुत किया है। तंत्र व विभिन्न हठयोग ग्रन्थों में 'कुण्डलिनी' तत्त्व की चर्चा तरह-तरह के अलंकारों के रूप में हुई है। सौभाग्य लक्ष्योपनिषद् के अनुसार'- मूलाधार में योनि के आकार का तीन घेरे वाला ब्रह्मचक्र है। यहाँ सुप्त सर्पिणी की तरह, कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। जागृत होने पर यह अनन्त सामर्थ्यवान् बना देती है और समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती है।[60]

प्रसिद्ध तन्त्रान्वेषी सर जान वुडरफ ने इसको '**सर्पेन्ट पावर**' की संज्ञा दी है। मैडम ब्लावतास्की ने इसे '**कास्मिक इलेक्ट्रिसिटी**' अथवा विश्व ब्रह्माण्ड व्यापी विद्युत् शक्ति कहा है। पं. श्रीराम शर्मा के शब्दों में यह '**जीवन ऊर्जा**' या '**जीवन अग्नि**' है।[61] जो सामान्य क्रम में सुप्त अथवा अर्धचेतन अवस्था में रहती है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि-'मेरी राय में नाड़ी शक्ति कुण्डलिनी का एक स्थूल रूप ही है, वह मूलत: नाड़ी संस्थान या उसका उत्पादन नहीं है। वह स्वयं ही इन दोनों प्रवाहों को उत्पन्न करती है। स्थिर सत्य, गतिशील सत्य एवं अवशेष शक्ति के समन्वित प्रवाह की तरह इस सृष्टि में काम करती है। व्यक्ति की चेतना में वह प्रसुप्त पड़ी रहती है। इसे प्रयत्नपूर्वक जगाने वाला साधक विशिष्ट सामर्थ्यवान् बनता है।[62] योगदर्शन के समाधि पाद सूत्र 26 में भी इसी की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि इस ज्योतिष्मती के प्रकाशवान् होने पर मनुष्य दु:ख शोकों से छूट जाता है।[63]

चक्र और उपचक्र

तंत्र विज्ञान में छ: मुख्य चक्रों का वर्णन किया गया है। छ: मुख्य चक्रों के अतिरिक्त शरीर में अन्य कई उपचक्र हैं। इन उपचक्रों में प्रमुख हैं-बिन्दु विसर्ग या बिन्दु चक्र, ललना चक्र तथा नासिकाग्र चक्र। इस प्रकार में अनेक उपचक्रों के नाम अलग-अलग हैं और कुछ के नाम शरीर के अंगों के साथ जुड़े होते हैं।

तत्र विज्ञान में जिन छ: प्रमुख चक्रों का वर्णन किया जाता है, उनका सम्बन्ध पंचतत्त्वों और मनस् तत्त्वों के साथ रहता है। ये चक्र सृष्टि के विकासक्रम को दर्शाते हैं। सबसे नीचे स्थित मूलाधार चक्र, पृथ्वी तत्त्व का और सबसे ऊपर स्थित आज्ञा चक्र मनस् तत्त्व का प्रतीक है। कपाल शीर्ष में स्थित सहस्त्रार चक्र परा अनुभूति का केन्द्र है,शिव का केन्द्र है।

60. सौभाग्यलक्ष्युपनिषद् -3/1-3
61. आचार्य श्रीराम शर्मा -कुण्डलिनी महाशक्ति एक दिव्य ऊर्जा, अखण्ड ज्योति, वर्ष 39, अंक 3, पृ. 59
62. आचार्य श्रीराम शर्मा-कुण्डलिनी महाशक्ति एक परिचय, अखण्ड ज्योति, वर्ष 31, अंक 3, पृ. 57
63. 'विशोका वा ज्योतिष्मती-योगसूत्र-1/26'

चेतना या शक्ति का रूपान्तरण

जब एक अव्यक्त चेतना या एक अव्यक्त शक्ति अपने आपको किसी रूप में व्यक्त करना चाहती है, तो उसका स्वाभाविक अवस्था में रूपान्तरण होता है। जिस प्रकार 11,000 वोल्ट की विद्युत् शक्ति को ट्रांसफार्मर द्वारा नीचे लाकर 240 या 220 वोल्ट की विद्युत् शक्ति प्राप्त होती है। ठीक उसी प्रकार अव्यक्त चेतना और अव्यक्त शक्ति को रूपान्तरित करते-करते विभिन्न तत्त्वों की अनुभूति होती है। अव्यक्त का मूल केन्द्र सहस्रार माना गया है। सहस्रार में शिव शक्ति का मिलन अव्यक्त, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् अवस्था का प्रतीक है। दृश्य में अव्यक्त की प्रथम अभिव्यक्ति **महत्** रूप में होती है। महत् तत्त्व का विस्तार मनश्चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के रूप में होकर सूक्ष्म शरीर में आज्ञा चक्र या गुरु चक्र के रूप में प्रकट होती है। तत्पश्चात् शक्ति तत्त्व की परिणति आज्ञा चक्र के रूप में विशुद्धि चक्र के रूप में होती है। में आकाश तत्त्व का अनुभव व्याप्त है। शक्ति की यह परिणति या रूपान्तरण विशुद्धि (आकाश तत्त्व) से अनाहत (वायु तत्त्व), अनाहत से मणिपूर (अग्नि तत्त्व), मणिपुर से स्वाधिष्ठान (जल, तत्त्व) स्वाधिष्ठान से मूलाधार (पृथ्वी तत्त्व) तक इस दृश्य जगत् में दिखलाई देता है। मूलाधार में व्यक्त शक्ति कुण्डलिनी रूप धारण कर प्रकृति में स्थित होकर मनुष्य को विषयों की ओर आकर्षित करती है। यह प्रक्रिया अव्यक्त से व्यक्त की ओर क्रमविकास को दर्शाती है।

ये सब विभिन्न चक्र कुण्डलिनी शक्ति के ही स्थान हैं, जो कि चेतना के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित है, जिनमें अतिसूक्ष्म शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं। कुण्डलिनी शक्ति की ही अलग-अलग शक्तियाँ इन केन्द्रों में होती है। एक प्रकार से देखा जाये तो सब चक्र कुण्डलिनी शक्ति के ही अंग हैं। सुषुम्न का निम्नतम भाग या सुषुम्न का आधार जिसे ब्रह्म द्वार कहते हैं, में से यह कुण्डलिनी शक्ति जागृत होने पर इन सब चक्रों में से होकर अन्त में सहस्रार (Cerebral cortex) अर्थात् ब्रह्म के स्थान पर पहुँच जाती है। यह सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके सहस्रार (शिवलोक) तक पहुँचाना ही, साधन का अन्तिम लक्ष्य है। यही शिव-भक्ति मिलन है। परमात्मा अपनी इस शक्ति से ही सृष्टि की रचना करता है।[64]

पंचकोशों और सप्तचक्रों का सम्बन्ध

पंचकोश और सप्तचक्र एक निश्चित प्रतिकृति के अनुसार परस्पर सम्बद्ध हैं। मूलाधार और स्वाधिष्ठान का सम्बन्ध है अन्नमय कोश से, मणिपूर का प्राणमय कोश से, अनाहत का मनोमय कोश से और विशुद्धि एवं आज्ञा का सम्बन्ध है विज्ञानमय कोश से। सहस्रार का सम्बन्ध आनन्दमय कोश से हैं, जो परा अवस्था परा अनुभूति है। इस संरचना के अनुसार कोश और चक्र आपस में सम्बन्धित हैं।

64. डॉ. शान्तिप्रकाश आत्रेय-योग मनोविज्ञान, पृ. 369

गुण और स्वभाव

तंत्र के दृष्टिकोण से गुण और स्वभाव को समझना होगा। तामसिक, राजसिक और सात्विक गुणों को तंत्र विज्ञान पूर्णरूपेण स्वीकार करता है। ये तीनों गुण कोशों को नियंत्रित करते हैं, उनकी अभिव्यक्ति और क्रिया को संचालित करते हैं तथा कर्मों के कारण बनते हैं।

इन तीनों गुणों से तीन प्रकार के स्वभावों की उत्पत्ति होती है। तमोगुण से पाशविक या **पशुभाव,** रजोगुण से **वीर-भाव** और सत्त्वगुण से **दिव्यभाव** की उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति तमोगुणी है, जिसके भीतर में पशुभाव प्रबल है, वह अपनी वासनाओं, इच्छाओं और कर्म में अधीन तथा बन्धन में जीवन व्यतीत करता है। परिवार, सम्पत्ति, स्वार्थ की भावना आदि पशुभाव के लक्षण हैं।

राजसिक गुण के द्वारा वीर भाव की उत्पत्ति होती है। तामसिक और पाशविक भाव के रहते हुए भी जीवन में आत्मसंयम और नियंत्रण की एक अवस्था को स्थापित कराना वीर भाव है। जब जीवन में आत्म संयम और आत्म नियंत्रण रहे, तब मनुष्य पशु भाव के प्रभाव से स्वयं को मुक्त करने में सक्षम हो सकता है। अतः वीरभाव के मुख्य लक्षण हैं- संयम और नियंत्रण। सात्विक गुण से दिव्य भाव की उत्पत्ति होती है। दिव्य भाव में आत्म संयम, यम और नियम का बोध होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान आदि यमों और नियमों का मनुष्य अपने जीवन में कर्त्तव्य के रूप में, अपने व्यक्तित्व के एक स्वाभाविक अंग के रूप में अनुसरण करता है। मानव क्रम विकास में पशु-भाव से वीर-भाव में एक रूपान्तरण होता है और वीर-भाव से दिव्य-भाव दूसरा रूपान्तरण होता है।

सामान्यतः मनुष्य गुणों को बदल नहीं सकता। गुणों को बदलने के लिए अपने कर्मों के प्रति जागरूक होना पड़ता है। किन्तु मनुष्य यदि भाव को बदल सके तो गुणों के नकरात्मक प्रभावों को कम किया जा सकता है। तामसिक को राजसिक में बदला जा सकता है और राजसिक को सात्त्विक में। बदलने का तात्पर्य है एक की प्रबलता को कम कर दूसरे को बढ़ाना। तामसिक गुण की प्रबलता कम होगी तो राजसिक गुण की प्रबलता में वृद्धि होगी। बाद में राजसिक गुण की प्रबलता कम होगी तो सात्त्विक गुण की प्रबलता में वृद्धि होगी। अंततोगत्वा जब साधक सात्त्विक गुण को प्रबल कर दिव्य भाव प्राप्त कर लेता है, तब वह कर्ममुक्त होता है और गुण एक हो जाते हैं। जीवन में जितनी भी अवस्थाओं और अनुभूतियों से मनुष्य गुजरता है तथा जो भी प्रतिक्रियायें होती हैं, वे सभी स्वभाववश होती हैं, गुणों के कारण नहीं। तंत्र शास्त्र की ऐसी ही मान्यता है कि गुणों को बदल नहीं सकते, स्वभाव को बदल सकते हैं।

डॉ0 ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मानव चेतना एवं योग विज्ञान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

धर्म, सम्प्रदाय एवं धर्म निरपेक्षता

धर्म मानव का स्वाभाविक गुण है। अर्थात् जिस प्रकार भूख लगना, श्वास लेना मानव के स्वाभाविक गुण है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक स्तर पर किसी धर्म को अपनाना मानव का स्वभाविक गुण है। जो लोग परम्परागत धर्मों को नहीं स्वीकारते, वे भी किसी न किसी मानवतावादी धर्म को अपनाते हैं। भारतीय परम्परा प्राचीन है। प्रारम्भ से ही इसके धर्म सिद्धान्त व्यापक रहे हैं। किसी भी धर्म के अनुयायी के लिए निम्न प्रार्थना स्तुत्य कही जायेगी-

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय,

मृत्योर्मामृतं गमय। बृह0उप0 1, 3.28।।

''अर्थात् मुझे असत् से सत्, अन्धकार से ज्योति और मृत्यु से अमरता की ओर ले जाओ।

वर्तमान समय में धर्म को लेकर भारत में ही नहीं वरन् पूरे विश्व में एक विवाद उभर रहा है। प्राय: विभिन्न धर्मों के लोग एक दूसरे के प्रति कहते हैं कि मेरा धर्म सत्य है और तुम्हारा धर्म असत्य है। सत्यता-असत्यता की कसौटी वहीं काम में लायी जाती है जहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा किसी कथन का सत्यापन-मिथ्यापन किया जाता है। जहाँ इन्द्रियज्ञान की सम्भावना नहीं है वहाँ सत्यापन-मिथ्यापन की कसौटी भी लागू नहीं होती। धर्म समाज के लिए हितकर-अहितकर, कल्याणकारी-अकल्याणकारी, हृदयस्पर्शी-बनावटी इत्यादि मूल्यों के द्वारा ही आंका जा सकता है। प्रोफेसर एडवार्ड (द फिलासफी ऑफ रेलिजन) ने कहा कि धर्म के प्रति लोगों की व्यक्तिगत धारणा चाहे जो भी रही हो परन्तु मानव जीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। सचमुच धर्म विश्व में हर तरह से बहुत बड़ी चीज है।''-

धर्म शब्द हम सबके लिए ऐसा परिचित शब्द है जिसका हम सब अपने दैनिक जीवन में प्राय: प्रयोग करते हैं। सामान्य व्यक्ति को इस शब्द के अर्थ के विषय में कोई कठिनाई महसूस नहीं होती है। सामान्यत: धर्म का नाम आते ही हम हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, जैन धर्म, बौद्ध, सिक्ख एवं इस्लाम धर्म का नाम लेते हैं। साधारण व्यक्ति के लिए धर्म शब्द विशेष उपासना स्थल और साधु सन्तों की ओर संकेत करता है। पूजा पाठ, पवित्र ग्रन्थ, उपासना स्थल, धार्मिक अनुष्ठान, पूजा पाठ सम्बन्धी कर्म काण्ड धर्म का वाह्य पक्ष है। यह द्वेष संघर्ष का प्रमुख कारण बनते हैं। अत: धर्म क्या है इसे समझना आवश्यक है।

संस्कृत के देववाणी होने के कारण उसके प्रत्येक शब्द में उसका पूर्व अर्थ समाया हुआ होता है। धर्म शब्द में धृञ्' धातु है जिसका अर्थ है धारण करना। धर्म सम्पूर्ण जीव जगत् को धारण करने वाली शक्ति है। इसकी व्यापकता अद्भुत है। इस व्यापकता में यह ईश्वर का ही पर्याय बन जाता है। ईश्वर धर्म की स्थापना भी करता है वही स्वयं धर्म रूप

भी है। श्रुति भी कहती है-"धर्मों विश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा"। सारे पदार्थ सम्पूर्ण प्राणी समुदाय अपने-अपने अस्तित्त्व के लिए धर्म पर ही निर्भर है। महाभारत में कहा गया है जो समाज को धारण करे वह धर्म है 'ध्रियते लोक: अनेन इति धर्म:"। "धरति धारयति वा लोकम् इति धर्म:।" महर्षि कणाद द्वारा रचित 'वैशेषिक दर्शन' में कहा गया है कि धर्म वह है जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति तथा उसके कल्याण में सहायक हो "यतोभ्युदयनि: श्रेयसिद्धि स धर्म:।" अर्थात् धर्म सम्पूर्ण मानव समाज के सर्वांगीण विकास का साधन है। मनु के अनुसार धर्म के निम्न दस अनिवार्य लक्षण है। 1. धृति अथवा धैर्य 2. क्षमा 3. संयम अथवा मनो निग्रह 4. अचौर्य अथवा चोरी न करना 5. शौच या सभी प्रकार की स्वच्छता 6. इन्द्रिय निग्रह 7. विवेकशीलता 8. विद्या सभी प्रकार का ज्ञान 9. सत्य बोलना 10. अक्रोध। "धृति: क्षमा दमो अस्तेयम् शौचमिन्द्रियनिग्रह: धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्मलक्षणम्" (मनुस्मृति-6.92) ये लक्षण मानव के व्यक्तिगत तथा सम्पूर्ण जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए अनिवार्य है।

धर्म के लिए अंग्रेजी भाषा में प्रचलित शब्द 'रेलिजन' है। यह शब्द लेटिन भाषा के 'रिलिजेयर' नामक शब्द से निकलता है जिसका अर्थ है 'बांधना'। अर्थात् रिलिजन वह है जो मनुष्य तथा ईश्वर में सम्बन्ध स्थापित करता है और मनुष्यों को परस्पर बांधता या संगठित करता है। यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि 'धर्म' तथा 'रिलिजन' दोनों शब्दों को प्राय: संकुचित साम्प्रदायिक अर्थ में ग्रहण किया गया है और मानव समाज में संघर्ष पैदा किया गया। 'दर्शन' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है देखना, खोजना। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से इसका अर्थ है सत्य का अनुसंधान। जब दर्शन धर्म से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की सुव्यस्थित एवं निष्पक्ष परीक्षा करता है तो उसे धर्म दर्शन की संज्ञा दी जाती है। धर्म दर्शन उन सभी समस्याओं, मान्याताओं, सिद्धान्तों और विश्वासों का तर्क संगत अध्ययन तथा निष्पक्ष मूल्यांकन करता है जिनका सम्बन्ध धर्म से हैं।

सम्प्रदाय, पंथ, मजहब और रेलिजन को भी ठीक-ठीक समझने की जरूरत है। सम्प्रदाय (Sect) का तात्पर्य है किसी संस्था के अन्तर्गत सामान्य रुचि के साथ व्यक्तियों का समूह है। वेद मूलक मानव धर्म के अन्तर्गत किसी गुरु या महापुरुष स्वयं अनुभूत या परम्परा उपलब्ध विशेष उपासना-पद्धति, आचार-पद्धति बतायी जा सिखायी तो उस उपासना और आचार-पद्धति को सम्प्रदाय कहा जायेगा। गुरु ने ठीक समझकर बताया है-"सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदाय।:" अर्थ में न कोई संकीर्णता है न ही कोई अहंकार। भारत में ही वैदिक सनातन धर्म की शाखाओं की तरह कई सम्प्रदाय जैसे सौर, शाक्त, जैन, सिक्ख आदि है। लगभग सभी सम्प्रदाय यह मानकर चलते हैं कि परमात्मा का प्रसाद व्यक्ति के निजी विश्वास नैतिक सदाचार द्वारा प्राप्त किया जाता है। बात तब बिगड़ती है जब एक सम्प्रदाय के लोग यह दुराग्रह करने लगते हैं कि उनका गुरु तो ठीक है बाकी सब गलत। अर्थात् जब एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय या अन्य धार्मिक समूहों के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार अपनाता है। इस प्रकार साम्प्रदायिक होना और शाश्वत मानव धर्म अपनाना दो

अलग-अलग विचार हैं। कुछ सम्प्रदाय अपने को धर्म के नाम से ही विख्यात करते हैं।

'पंथ' 'मजहब' और 'रेलिजन' उस उपासना एवं जीवन पद्धति के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं जो किसी पैगम्बर या विशिष्ठ महापुरुष के द्वारा प्रवर्तित की गयी है। संस्कृत में ऐसे पुरुषों को आप्त पुरुष कहा गया है। ये मत धर्म की सार्वभौम, सार्वजनीन कल्याण भावना के अनुकूल नहीं है। इनमें संकीर्णता का भाव व्याप्त है। इस कारण शान्ति एवं सद्भाव के स्थान पर विद्वेष ही फैलता है। इससे पूरा मानव समाज, पूरा विश्व आक्रान्त है।

धर्म निरपेक्षता क्या है इसे समझना आवश्यक है। अपने आपको धर्म निरपेक्ष कहना आधुनिकता एवं प्रगतिशीलता का चिह्न समझा जाता है। अत: राजनैतिक एवं धार्मिक नेता अपने संगठन के लिए 'धर्म निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग करके गर्व का अनुभव करते हैं। कुछ भारतीय विचारक धर्म निरपेक्षवाद का एक विशेष सकारात्मक अर्थ बताते हैं। इसका सम्बन्ध आध्यात्मिकता, धार्मिक सहिष्णुता तथा सभी धर्मों की समानता से हैं। डॉ0 राधाकृष्णन् के अनुसार उपर्युक्त विचार भारत की प्राचीन परम्परा (धार्मिक) के अनुरूप है। यह व्यक्तिक गुणों को समुदाय के सदस्यों के अधीन मानने के स्थान पर उनमें परस्पर सामान्जस्य स्थापित करके धर्मपरायण व्यक्तियों में एकता अथवा सौहार्द्र उत्पन्न करने का प्रयास करता है।'' (रिकबरी ऑफ फेथ पृ0 202) डॉ0 आबिद हुसैन कहते हैं कि ''धर्म निरपेक्षता का अर्थ अधार्मिकता या अनीश्वरवाद अथवा भौतिक सुखों को बल देना नहीं है।..............यह अध्यात्मिक मूल्यों की सार्वभौमता पर बल देता है जिन्हें विभिन्न उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।'' (द नेशनल कल्चर ऑफ इण्डिया पृ0 8)

प्रो0 वेद प्रकाश वर्मा धर्म निरपेक्षतावाद की उपर्युक्त कारकों से सन्तुष्ट नहीं है उनका कहना है कि धर्मनिरपेक्षतावाद को 'धार्मिक' अथवा 'आध्यात्मिक' कहना निश्चय ही स्वतोव्याघात पूर्ण है।'' (धर्म दर्शन की मूल समस्याएें, पृ0 489) इस सिद्धान्त का मूल आधार यह भौतिक जगत् और इसमें मनुष्य का वर्तमान जीवन ही है। इसी कारण इसे 'इहलौकिक सिद्धान्त' माना जाता है। जो सिद्धान्त सामान्य अर्थ में धर्म का निषेध करता है, उसे प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा का समर्थक और धर्मों का समान रूप से आदर करने वाला सिद्धान्त मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। इसी कारण गांधी जी ने सभी धर्मो का समान रूप से आदर करने वाले अपने सिद्धान्त को ''सर्व धर्म समभाव'' की संज्ञा दी है।'' धर्म निरपेक्षता एवं 'सर्व धर्म समभाव' दोनों को समान अर्थ में प्रयोग करना बड़ी भूल है। धर्म निरपेक्षता सभी धर्मों का समान रूप से निषेध करने अथवा कम से कम उन सबके प्रति समान रूप से तटस्थ या उदासीन रहने का सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में दोनों को एक ही मान लेना भ्रामक है।

''धर्म निरपेक्षता'' में 'धर्म' शब्द का प्रयोग इसके सामान्य प्रचलित अर्थ में ही किया जाता है जिसके अनुसार हम हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, जैन, बौद्ध, इस्लाम आदि को धर्म कहते हैं। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ ''अभ्युदय'' अथवा 'स्वकर्तव्य' पालन नहीं है जिसे प्राचीन मनीषियों ने स्वीकार किया है। धर्म निरपेक्षवाद मानव जीवन में धर्म का पूर्णत:

निषेध करता है यह इस सिद्धान्त का नकारात्मक पक्ष है। धर्मनिरपेक्षतावादी नैतिकता को धर्म से पूर्णतः पृथक् एवं स्वतंत्र मानते हैं यह उचित नहीं है मनुस्मृति में वर्णित धर्म के दस अनिवार्य लक्षण नैतिकता के उद्गम है।

आज मानव समाज वैज्ञानिक अनुसन्धानों के कारण विकास के सर्वोच्च शिखर पर है लेकिन इसके साथ-साथ धर्मान्धता, कट्टरता, साम्प्रदायिकता के झगड़ों ने पूरे विश्व समाज की नींव को हिला दिया है। उदाहरण के रूप में तालिबान संकट, विश्व व्यापार केन्द्र पर हमला इसी प्रकार अन्य घरेलू झगड़े एवं साम्प्रदायिक घटनाऐं। आतंकवादी क्रियाकलापों से पूरा मानव समाज आतंकित है। ऐसे में सामाज्रिक सद्भाव का विकास आवश्यक है। विभिन्न धर्मों के बीच सद्भाव का होना ही धार्मिक सहिष्णुता है। महात्मा गांधी ने धार्मिक सहिष्णुता और उदारता पर आधारित विचारधारा को ''सर्व धर्म समभाव'' की संज्ञा दी है। अपने एकादश व्रतों में एक अनिवार्य व्रत के रूप में स्वीकार करते हैं। स्वामी विवेकानन्द भी इसके समर्थक थे। इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए गांधी जी ने लिखा है-''अपने-अपने धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करते हुए हमें एक दूसरे के उत्तम सिद्धान्तों को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार ईश्वर तक पहुँचने के मानव प्रयास में अपना योगदान देना चाहिए। हमें दूसरे धर्मों का उसी प्रकार आदर करना चाहिए जिस प्रकार हम अपने धर्म का सम्मान करते हैं। मेरे विचार में विभिन्न धर्म एक ही उद्यान के सुन्दर फूल तथा एक ही महावृक्ष की शाखाएं हैं। अतः वे समान रूप से सत्य हैं।'' (महात्मा गांधी 'हिन्दू धर्म' सम्पादक भारतन कुमारप्पा पृ0 260-261)

यदि सभी मनुष्य अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का भी सम्मान करना सीख ले तो संसार से वह धार्मिक कट्टरता दूर हो सकती है जो विभिन्न धर्मावलम्बियों में शत्रुता उत्पन्न करती है जिसके कारण उनमें निरन्तर रक्त रंजित संघर्ष चलता रहता है। इस दृष्टि से गांधी जी के सर्व समभाव सम्बन्धी सिद्धान्त का मानव जाति के लिए विशेष *व्यावहारिक* महत्त्व है। यह सिद्धान्त विभिन्न धर्मावलम्बियों में स्नेह एवं सौहार्द उत्पन्न कर सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि इसे सच्चे हृदय से स्वीकार किया जाए।

विश्व में जो भिन्न-भिन्न धर्म पाये जाते हैं उनमें कुछ समानताऐं हैं तो कुछ अन्तर भी हैं किन्तु किसी धर्म को निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। निन्दनीय है धर्मान्धता। सभी धर्म सम्मान के पात्र हैं। विभिन्न धर्मों के प्रति सद्भाव होना ही धार्मिक सहिष्णुता है। धार्मिक सहिष्णुता का भाव ही सच्चे रूप से मानव धर्म की रक्षा एवं सेवा कर सकता है। सभी धर्मों का मूल मन्तव्य मानव जाति का विकास एवं रक्षा करना है। विभिन्न धर्मों की विधियाँ इस उद्देश्य को पाने के लिए अलग-अलग हो सकती हैं लेकिन कोई भी धर्म मानवता के विकास को नकार नहीं सकता। अतः धर्म को लेकर विभिन्न विवादों को छोड़कर मनुस्मृति में वर्णित धर्म के दश लक्षणों का ज़ो वर्णन किया गया है वे मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ मानव जाति के सर्वांगीण विकास-कल्याण के लिए निश्चय ही अनिवार्य हैं।

कोई धर्म छोटा या बड़ा नहीं है। आज आवश्कयता है धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा और समर्पण का भाव जगाने की। मानव को अपने संस्कार के अनुसार धर्म को धारण करना चाहिए। साथ ही सभी धर्मों के प्रति समादर की दृष्टि रखनी चाहिए। गांधी जी का मन्तव्य है-"मेरी आस्था जैसी गीता में है वैसे बाइबिल में भी है। मैं अपने धर्म के समान विश्व के अन्य महान् धर्मों का सम्मान करता हूँ। यदि कोई धर्माचारी अपने ही धर्म का उपहास करता है तो मुझे बहुत दु:ख होता है।" (एस. राधाकृष्णन् इस्टर्न रेलिजन एण्ड वेस्टर्न थाट पृ0 313)

सन्दर्भ ग्रन्थ

1.वेद प्रकाश वर्मा-धर्म दर्शन की मूल समस्यायें

2.दुर्गादत्त पाण्डेय-धर्म दर्शन का सर्वेक्षण

3.हृदय नरायन मिश्र-धर्म दर्शन परिचय

4.याकूब मसीह-तुलनात्मक धर्म दर्शन

5.पी0वी0काणे-धर्म शास्त्र का इतिहास खण्ड-1

6.याकूब मसीह-समकालीन धर्म दर्शन

डॉ0 मृगेन्द्र कुमार सिंह

दर्शन-विभाग

हे0न0ब0 गढ़वाल विश्वविद्यालय

श्रीनगर गढ़वाल (उत्तरांचल)

युद्ध एवं शांति स्थापना

कार्ल मार्क्स के अनुसार "मानव इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।[1]" मानव जीवन ही संघर्षपूर्ण है जिसकी परिणति क्रांति है। सभी समाज-दार्शनिक यह मानते हैं कि युद्ध मानव की स्थाई प्रक्रिया है। जब हम विकासवाद का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि युद्ध केवल मानव या प्राणियों में ही नहीं बल्कि अविकसित प्राणियों एवं पौधों में भी अनवरत चलता रहता है। इसे विकासवादियों ने "बलवान् ही जीवित रहेंगे" की संज्ञा दी है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध स्थाई प्रक्रिया है अर्थात् युद्ध अनवरत चलते रहते हैं परन्तु समयानुसार इसका स्वरूप बदलता रहता है। विलड्यूरण्ड कहते हैं कि विश्व के इतिहास में ऐसा कोई क्षण नहीं जबकि युद्ध न हुआ हो।[2] अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति कनेडी कहते हैं "जब से इतिहास का आरम्भ हुआ है युद्ध मानव जाति का साथी रहा है। यह मानव प्रकृति का नियम रहा है न कि अपवाद।[3]" युद्ध स्थाई प्रक्रिया होने के कारण दार्शनिक इसे एक संस्था मानते हैं। किम्बल यंग के अनुसार "युद्ध मनुष्य का मानवीय संघर्ष का सबसे अधिक हिंसक रूप रहा है अत: यह प्राचीन मानवीय संस्थाओं में से एक है।[4]"

प्रश्न विचारणीय है कि युद्ध क्यों होते हैं, इसका कारण क्या है? जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों के विचारों में विषमता आ जाये वहीं से युद्ध की भूमिका की शुरूआत हो जाती है। रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक 'कुरुक्षेत्र' में लिखा है कि 'युद्ध कभी भी एकदम शुरू नहीं होते। ये तो उस प्रलयंकारी तूफान की तरह है जो सब कुछ नष्ट करता चला जाता है। तूफान के लिए पहले कोई परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं फिर तूफान अपना रूप धारण करता है।"[5] इस प्रकार युद्ध के लिए भी पहले परिस्थितियाँ बनती हैं चाहे वह राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक ही क्यों न हों। जब तक इन परिस्थितियों को अनुकूल वातावरण नहीं मिलता तब भी ये आन्तरिक एवं धीमी गति से सक्रिय रहती हैं। जिस दिन अनुकूल वातावरण व परिस्थितियाँ बन जाती है युद्ध शुरू हो जाते हैं। युद्ध हमेशा हर समय, हर स्थान पर होते रहते हैं। पशुओं में प्रकृति के अनुरूप तथा मानव में बुद्धि से युद्ध लड़ा जाता है। सर्वप्रथम युद्ध व्यक्तिगत रूप में होता है जिसे 'सत्-असत् निवारण युद्ध कहा जाता है।' धीरे-धीरे विकसित होता हुआ वर्ग, राष्ट्र एवं विश्व के सभी व्यक्ति अपने अस्तित्त्व को बचाने के लिए संघर्ष व युद्ध में लगे रहते हैं। इस पर चर्चिल ने कहा है "मानव जाति का इतिहास युद्ध पूर्ण है।"[6] अर्थात् मानव हमेशा ही अपने अस्तित्त्व के लिये

---

1. Karl Marks, Communist Manifesto.
2. उद्धृत, डॉ., एस.के.मिश्रा, युद्ध का अध्ययन, पृ0 3
3. उद्धृत, डॉ., एम.पी.वर्मा. सामारिक सिद्धान्त, पृ0 5
4. Kimball Young A Hand book of Social Psychology, P. 589
5. डॉ. रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र पृ0 5
6. उद्धृत, डॉ. एस.के.मिश्र, पूर्वोक्त

युद्ध करता आया है चाहे वह प्रकृति से हो या प्राणियों से। किसी विद्वान् ने नये इतिहास की शुरूआत के बारे में लिखा है कि "इतिहास का भव्य जुलूस हमेशा ही तलवारों की खनखनाहट और गड़गड़ाहट से शुरू होता है।[7]" इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव जाति के जन्म से ही युद्ध शुरू हुआ था यानि कि युद्ध उतना ही प्राचीन है जितनी कि मानव जाति। दार्शनिक यह भी मानते हैं कि सभ्यता का विकास युद्धों से ही होता है जिसके कारण अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई, इसलिए हेराक्लाईटस कहते हैं, युद्ध सब वस्तुओं का जनक हैं, युद्ध सबका राजा है,[8] इसी के कारण नयी-नयी सभ्यताएं जन्म लेती हैं और नष्ट होती हैं परन्तु युद्ध हमेशा से बरकरार हैं। समाज-दार्शनिक यह भी स्वीकार करते हैं कि युद्ध एक राजनैतिक घटना है परन्तु यह मानवीय व्यवहार से भी सम्बन्धित है। युद्ध क्यों होते हैं, इसका क्या कारण है, क्या इसे रोका जा सकता है? उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए राजनैतिक अध्ययन की अपेक्षा दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक दिखाई पड़ता हैं।

समाज-दर्शन केवल सामाजिक परिस्थितियों का ही अध्ययन नहीं करता बल्कि उनका दार्शनिक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से भी अध्ययन करता है। समाज-दर्शन युद्ध के मूल उद्देश्यों और कारणों का पता लगाता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि युद्ध कभी भी एकदम शुरू नहीं होते, उनके पीछे भी एक दर्शन छुपा हुआ है। कुछ मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि मनुष्य में आक्रमकता की मूलप्रवृत्ति है जिस कारण युद्ध की पृष्ठभूमि बनती है। इसलिए युद्ध हमेशा से चल रहे हैं और चलते रहेंगे। कुछ दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा मानवशास्त्री यह भी मानते हैं कि यदि युद्ध के कारणों का पता लगाया जाये तो युद्ध को रोका जा सकता है। इसलिए कहा जा सकता है कि युद्ध मानव की प्रवृत्ति नहीं है। दार्शनिक इसके साथ यह भी मानते हैं कि युद्ध के सिद्धान्त स्थाई होते हैं परन्तु देश-काल परिस्थिति अनुरूप इनका स्वरूप बदलता रहता है (जैसे प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग (परमाणु युग) के युद्धों का इतिहास)। आज सारा विश्व इस बात के लिए चिन्तित है कि आग के ढेर पर बैठे विश्व को कैसे बचाया जाये? इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध और शान्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए लिडिल हार्ट कहते हैं कि "यदि आप शान्ति चाहते हैं तो युद्ध को समझना आवश्यक है।[9]"

युद्ध की परिभाषा

युद्ध हमेशा चलने वाली प्रक्रिया है परन्तु देश-काल परिस्थिति अनुसार बदलते रहते हैं। इसलिए समाज दार्शनिकों, युद्ध नेताओं व राष्ट्राध्यक्षों द्वारा युद्ध की परिभाषाएं समयानुसार दी गई हैं जो निम्नलिखित हैं:-

7. वही
8. वही
9. Lidil Hart, Detterence or Defence,P. 247

रूसों के अनुसार" युद्ध दो राज्यों के मध्य सशस्त्र सेनाओं द्वारा किया जाने वाला संघर्ष होता है।[10]"

सिसरो के अनुसार" युद्ध वह दशा है जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग का शस्त्रों द्वारा विरोध करते हैं।"[11]

हाब्स के अनुसार." युद्ध वास्तविक संघर्ष में निहित नहीं होता, बल्कि शान्ति का आश्वसन मिलने के समय से पहले चलते रहने वाले शत्रुतापूर्ण भावों में निहित होता है।[12] सन-जू के अनुसार "युद्ध राज्य का एक श्रेष्ठ कार्य है, जीवन मरण का क्षेत्र है, सुरक्षा एवं विनाश का मार्ग है; इसका अध्ययन विशेष परिश्रम से करना चाहिए।"[13] रूसी मानवशास्त्री मेलिनोव्सकी के अनुसार "युद्ध वह है जिसमें दो स्वतन्त्र राजनैतिक दल अपनी संगठित सैनिक शक्ति के बल पर अपनी-अपनी नीतियों का पालन करवाने की कोशिश करते हैं।[14]"

क्विन्स के अनुसार "युद्ध एक ऐसी वैधानिक स्थिति है जो दो या दो से अधिक शत्रु देशों को समान रूप से सशस्त्र सेना द्वारा अपने संघर्ष को चलाते रहने की अनुमति प्रदान करता है।"[15]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि युद्ध वह स्थिति है जिसमें दो या दो से अधिक राज्य या राष्ट्र सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग करते हुए हिंसक कार्यवाही करते हैं तथा अपना-अपना उद्देश्य पूरा करके हारे हुए राष्ट्र पर अपनी इच्छा थोपते हैं।

यहाँ पर भी यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि कुछ दार्शनिक क्रान्ति, संघर्ष, लड़ाई तथा अभियान को युद्ध का ही रूप मानते हैं जबकि इनमें बहुत अन्तर हैं। यह सभी मानते हैं कि समाज परिवर्तनशील है। कई बार समाज में धीरे-धीरे परिवर्तन होता है और कभी-कभी आकस्मात्। इसमें पहले को उद्धविकास तथा दूसरे को क्रान्ति कहते हैं। क्रान्ति में परिवर्तन एकदम दिखाई पड़ता है। किम्बल यंग कहते हैं "जब राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एकदम नये रूप परिवर्तन करता है क्रान्ति कहलाती है।" संघर्ष युद्ध का छोटा रूप है। संघर्ष केवल एक समुदाय, समूह तक सीमित होता है। जब यह संघर्ष भयानक हो जाये और विकराल रूप धारण कर ले तब उसे युद्ध की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। लड़ाई व्यक्तिगत या समूह के रूप में लड़ी जाती है जिसमें कोई एक उद्देश्य होता है। यह भी संघर्ष की तरह युद्ध का छोटा भाग है। अभियान को भी युद्ध की कार्यवाही का ही एक हिस्सा माना जाता है। जब युद्ध होता है तो राष्ट्र अपने उद्देश्यपूर्ति हेतु अनेक प्रकार की

10. वही, पृ0 5
11. उद्धृत, डॉ. हरवीर सिंह, भारत की सुरक्षा समस्या, पृ0 278-79
12. वही
13. उद्धृत, डॉ. एस.के. मिश्र, पूर्वोक्त, पृ05
14. उद्धृत, डॉ. हरवीर सिंह, पूर्वोक्त, पृ0 279
15. वही, पृ0 278

कार्यवाही करता है जिसे अभियान कहते हैं। यदि दर्शनिक रूप से देखा जाये तो युद्ध अभियान, क्रान्ति, संघर्ष, लड़ाई, छापे आदि युद्ध के छोटे रूप हैं लेकिन युद्ध के दो भयंकर रूप युद्ध तथा शीत युद्ध ही माने गये हैं।

युद्ध की विशेषताएं

विभिन्न समाज एवं सैन्य दार्शनिकों द्वारा दी गई परिभाषाओं से कुछ विशेषताएं स्पष्ट झलकती हैं जो निम्नलिखित हैं:-

1 युद्ध सब वस्तुओं का जनक व राजा है।

2 युद्ध समाज के विकास का आधार तथा कारण है, इस कारण यह समाज एवं राज्य का श्रेष्ठ कार्य है।

3 युद्ध में एक पक्ष दूसरे पक्ष पर अपनी इच्छायें थोपने की कोशिश करता है।

4 युद्धों की शुरूआत दो या दो से अधिक देशों के वैचारिक मतभेदों का कारण है।

5 युद्ध के कुछ स्वार्थ निहित होते हैं।

6 युद्धों द्वारा समाज तथा राज्य के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक तकनीकी की पूर्ति की जाती है।

7 युद्धों के भय से राष्ट्रों में शक्ति सन्तुलन बना रहता है। जिस कारण विकास तथा अनुसन्धनों में तेजी आती है जैसा आज सारे विश्व में दिखाई पड़ रहा है।

8 युद्ध के कारण युद्ध में प्रयोग होने वाले शस्त्रों एवं साधनों की परीक्षा की जाती है जैसे कारगिल युद्ध में बोफोर्स तोप की परीक्षा हुई और भारत सरकार ने उसे युद्ध के लिए शामिल कर लिया।

9 लिडिल हार्ट के अनुसार शान्ति को जानने से पहले युद्ध को समझना आवश्यक है क्योंकि युद्ध की जानकारी ही शान्ति का मार्ग-दर्शन करता है।

10 युद्ध के द्वारा नागरिकों एवं सैनकों में आत्मत्याग, कर्त्तव्य-परायणता, बलिदान आंदि मानवीय गुणों का पता चलता है।

11 युद्ध के दौरान की गई भूल का बाद में सुधार किया जाता है राष्ट्र उसके प्रति जागरूक भी रहता है।

जनरल लिंडसे ने उपर्युक्त विशेषताओं को कुछ ही शब्दों में सीमित कर दिया है "युद्ध द्वारा मानसिक प्रेरणा मिलती है जिस कारण आविष्कार होते हैं, वैज्ञानिक और बुद्धिजीवी वर्ग शान्ति स्थापना में लग जाते हैं लेकिन जब युद्ध शुरू हो जाये तो यह वर्ग

अपनी सारी शक्ति को उसमें झोंक देते हैं, फिर वे इतनी ताकत के साथ तकनीकी सुधार और भौतिक साधनों में वृद्धि करते हैं कि शान्तिकाल में उसकी कल्पना नहीं की जा सकती।" इसी प्रकार मोल्टेक ने भी युद्ध की विशेषताएं बताते हुए कहा है, "स्थाई शान्ति केवल स्वप्न मात्र है और यह स्वप्न बहुत बुरा हैं। युद्धों द्वारा गुणों का विकास तथा अन्त दोनों होते हैं। इसके साथ लोगों की देश के प्रति साहस, कर्त्तव्य परायणता, त्याग, समर्पण की भावना प्रकट होती है।[16]"

युद्ध की भयावह स्थिति को देखते हुए आज सारा विश्व चिन्तित है कि युद्धों को कैसे रोका जाये और विश्व में शान्ति स्थापित हो। इस पर समाज एवं नीति-दार्शनिकों तथा सैन्य एवं सुरक्षा विशेषज्ञो ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं।

शांति स्थापना

समाज दार्शनिकों के समक्ष एक बड़ी विडम्बना यह है कि एक देश अपने नागरिकों में शांति चाहता है, परन्तु जब विश्व शांति की बात उठती है तो वह उसके विरोध में अपना मत सबसे पहले देता है और तरह-तरह की बातें, वायदे, सीमाओं, आदि की बातों को उठा देता है, कटाक्ष करता है या किसी देश की मध्यस्ता करवाता है या करता है जो शांति भंग करने के मुख्य मुद्दे हैं। इस कारण सभी राष्ट्र किसी न किसी राष्ट्र के दुश्मन बने बैठे हैं। ऐसा क्यों? यह समझना अति कठिन है। यदि इसे समझना है तो हमें लिडिल हार्ट की बात, "यदि हम शांति चाहते हैं तो सबसे पहले युद्ध को समझना होगा" को जानना अति आवश्यक है। जनरल क्लाजविट्स कहते हैं "विजय का मूल्य रक्त है। युद्ध एक हिंसात्मक कार्यवाही है जिसे अधिक सीमा तक प्रयोग करना चाहिए।" इसी तरह किसी अन्य ने भी कहा है कि युद्ध शत्रु को पूर्णतः नष्ट करना नहीं बल्कि अन्य तरीकों से उसे नष्ट करना है। क्लाजविट्स की परिभाषा द्वितीय विश्व युद्ध की याद दिलाता है। जब जापान के हिरोशिमा, नागासाकी नगर नष्ट कर दिये गये तब लिडिल हार्ट की बात को जाना गया कि युद्ध तो विनाशक है विश्व में शांति हो और U.N.O. की स्थापना हो गई। अर्थात् युद्ध के बारे में जाना गया कि युद्ध क्या है। यदि हम विश्व शांति चाहते हैं तो हमें सबसे पहले युद्ध के कारणों को जानना होगा जिसका समाधान वैज्ञानिक अध्ययन से किया जा सकता है।[17] यह सभी जानते हैं कि ठीक ही कहा है कि विश्व में युद्ध की समस्या को उस समय तक हल नहीं किया जा सकता जब तक इस समस्या की वैज्ञानिक खोज न कर ली जाये और मानव सम्बन्धों के बारे में अधिक ज्ञान उपलब्ध न हो जाये।

आज सारे विश्व में लोगों की भलाई के लिए साधनों को बहुत कम खर्च किया जाता है जबकि सुरक्षा के मामलों में अधिक। यही कारण है कि आज तक इस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया कि युद्ध के कारण क्या हैं', क्यों होते हैं? कुछ लोग कहते हैं कि

16. विस्तृत द्रष्टव्य, डॉ. रोहतास कुमार, युद्ध और युद्ध के कारण (शोध पत्र)
17. डॉ. रामधारी सिंह दिनकर, पूर्वोक्त, संदर्भ, 5

केवल एक व्यक्ति युद्ध के लिए उत्तरदायी होता है। जैसे अकेले नेपोलियन ने सारे यूरोप में तबाही मचा दी थी और 'शैतान की उपाधि' से विभूषित किया गया। इसी प्रकार कैशर को प्रथम विश्वयुद्ध तथा हिटलर को द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। इसके विरोध में रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं कि केवल एक व्यक्ति युद्ध के लिए जिम्मेदार नहीं हो सकता इसके लिए समाज, राष्ट्र, परिस्थितियाँ, समय आदि की भूमिका भी प्रमुख होती है। जिन्हें कभी भी नकारा नहीं जा सकता। इसलिए व्यक्ति विशेष युद्ध के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकता।[18]

शांति स्थापना हेतु G.W.Allport महोय ने Psychological Bulletin अपने शोध-पत्र में Human Nature and peace (मानव प्रकृति एवं शांति) में दस सुझाव दिये हैं और बहुत से लोगों ने उसकी सराहना की जो निम्नलिखित है:-

१.युद्ध कोई जरूरी नहीं तथा नैतिक शिक्षा का प्रचार:- कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि कुछ लोग स्वभाव से युद्धप्रिय होते हैं अर्थात् युद्ध जन्मजात प्रक्रिया है। इसे 'बुरा खून' भी कहा जाता है। लेकिन मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि युद्ध कोई जन्मजात प्रक्रिया नहीं है क्योंकि कोई भी प्रजाति, समाज या समूह आवश्यक रूप से युद्ध प्रेमी नहीं होता। युद्ध के लिए लोगों के स्वार्थ, हताशायें, बदले की भावना, इर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि निहित होते हैं। यदि समाज में युद्ध को समाप्त करना है तो सुचारु रूप से लोगों में नैतिक शिक्षा का प्रचार करना होगा।

२.भावी पीढ़ी और भविष्य:- यदि हम विश्व शांति चाहते हैं तो हमें ऐसी योजनाओं को कार्यान्वित करना पड़ेगा जिसमें भावी पीढ़ी का भविष्य भी सामने रखना होगा। यह सभी दार्शनिक मानते हैं कि बालक गीली छड़ी के समान होता है जिसे चाहो किसी तरह मोड़ा जा सकता है। इसके लिए सभी देशों को एक मत होकर साम्राज्यवाद, पक्षपात, असुरक्षा और अज्ञानता का विरोध करना होगा तथा भावी पीढ़ी के भविष्य को उज्ज्वल करना होगा।

३.समानता का प्रचार:- विश्व शांति स्थापना हेतु यह अति आवश्यक है कि कोई भी राष्ट्र, संस्थायें एक दूसरे के प्रति पक्षपात नहीं करेंगे, सभी समानता का व्यवहार करंगे। जब सभी देशों में समानता का प्रचार होगा, भेदभाव दूर होगा तो विश्व में शांति स्थापना का पहला कदम होगा। यह सभी जानते हैं कि धर्म, प्रजाति तथा राष्ट्र भेदभावपूर्ण नीति अपनाते हैं तो वे तनाव को बढ़ा देते हैं और युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।

४.घृणा एवं पक्षपात पर रोक:- विश्व शांति के लिए सभी राष्ट्रों को एक दूसरे के प्रति घृणा एवं पक्षपात पर रोक लगानी होगी। इसके लिए लोगों को शिक्षित करना आवश्यक है तथा साथ में युद्ध अनुभवों से शिक्षा लेनी होगी। जब लोग इस बात को

18. G.W. Allport, Human Nature and Peace, Psychological Bullitin.

स्पष्टतः जानेगें कि सभी लोगों की समस्याएं आवश्यकतायें, इच्छायें, आकांक्षायें समान है तो वे अपने आप ही युद्ध से दूर भागेंगे और भाईचारे की भावना बढ़ेगी।

५.उचित दण्ड एवं पुरस्कारः- जब युद्ध होता है तो हम एक व्यक्ति विशेष को दोषी नहीं ठहरा सकते। इसके लिए सूझबूझ का सहारा लेते हुए यह जानना होगा कि कौन सा राष्ट्र दोषी है जो राष्ट्र युद्ध के लिए दोषी है उसे उचित दण्ड देना होगा और निर्दोष को उचित पुरस्कार।

६.राष्ट्र एक दूसरे के स्वशासन में हस्तक्षेप न करें:- यदि युद्ध को रोकना है तो सभी देशों को इस बात का पालन करना पड़ेगा कि वे किसी दूसरे देश या राष्ट्र के स्वशासन में हस्तक्षेप नहीं करेगें। जब कोई राष्ट्र किसी एक दूसरे राष्ट्र के स्वशासन में हस्तक्षेप करते हैं तो लोगों में एक दूसरे राष्ट्र के प्रति घृणा, द्वेष की भावना पनपती है और युद्ध की भूमिका तैयार होती जाती है। जैसे भारत के स्वशासन में पाकिस्तान द्वारा टांग अड़ाना। हो सकता है कि यह कभी युद्ध में परिवर्तित हो जाये।

७.आत्म सम्मान व पुनर्वासः- जब युद्ध के बाद हार जीत का निर्णय हो जाये या आत्म समर्पण किया जाता है तो शत्रुपक्ष के लोगों का पूर्ण सम्मान करते हुए उनकी पुनर्वास की उचित व्यवस्था करनी चाहिए। इससे उनके आत्मसम्मान को ठेस नहीं पहुँचेगी। जो देश या राष्ट्र ऐसा नहीं करते हैं तो हारे हुए लोग कभी भी भड़क सकते हैं और युद्ध शुरू हो सकता है। जब हम किसी का सम्मान करते हैं तो हो सकता है कि वे हमारी विचारधारा में शामिल हो जायें और शांति की राह पर चलें। आज जब भी युद्ध शुरू होता है तो विजित देश सबसे पहले पुनर्वास की योजना को प्राथमिकता देता है। यह उसका कर्त्तव्य भी है।

८.सर्वसाधारण का सम्मानः- यदि हम विश्व शांति चाहते हैं तो हमें सर्वसाधारण का सम्मान करते हुए उनकी आवश्यकताएं, इच्छाएं, आंकाक्षाओं को ध्यान में रखना होगा। इस प्रकार वे अपना जीवन शांतिपूर्वक बीताते हुए शांतिपूर्वक जीवन निर्वाह करते रहें।

९.सामूहिक सुरक्षा के लिए बड़ी-बड़ी ईकाइयों की स्थापना करनाः- आज विश्व वैश्वीकरण की तरफ अग्रसर हो रहा है। सभी लोग संचार साधनों के माध्यम से एक दूसरे के इतने नजदीक आ गये हैं कि वे अन्यों को पहचानने लगे हैं। यदि सभी राष्ट्र वैश्वीकरण ध्यान में रखते हुए राष्ट्र की सीमाओं को सुरक्षा दें, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारें स्थापित हों तो विश्व शांति को बढ़ावा मिल सकता है। इसका उदाहरण यूरोप की एक समान मुद्रा 'यूरो' तथा जर्मनी का एकीकरण इसका पहला कदम है।

१०.वायदे और सच्चाईयाँ:- जब युद्ध समाप्त होता है तो दोनों राष्ट्र अपने-अपने नागरिकों से किये वायदे पूरे करें तथा सच्चाई सभी देशों के सम्मुख प्रकट की जायें। इससे एक दूसरे राष्ट्र के लोगों में घृणा, द्वेष की भावना दूर होगी तथा शांति स्थापना में योगदान मिलेगा।

शांति स्थापना के अन्य सुझाव

समाज दार्शनिकों ने शांति स्थापना के कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किये हैं जो निम्नलिखित हैं:-

१.विश्वशांति की शिक्षा प्रदान करना:- दार्शनिक यह मानते हैं कि मानव मन कोरी पट्टी के समान होता है। वह केवल अपने अनुभवों द्वारा जीवन जीने की पद्धति सीखता है। जिस प्रकार वह युद्ध सीखता है उसी प्रकार शांति से रहना भी सीख सकता हैं। आज यदि लोगों को आग में जलते विश्व की तस्वीर दिखाई जाये तथा शांति की शिक्षा दी जाये तो लोग अपने अस्तित्त्व के बारे में सचेत हो जायेगें। ऐसा केवल एक देश न करके विश्व के सभी देश करे तो विश्व में शांति स्थापना कायम की जा सकती है।

२.अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बढ़ावा देना:- यह सभी जानते हैं कि युद्ध दो देशों के बीच तनाव की स्थिति है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी देश अपने पूर्वाग्रहों, रूढ़ियों को त्यागें और सम्बन्धों में अच्छी प्रकार सुधार लायें तो विश्व के लोग एक दूसरे के नजदीक आयेंगें इस कारण लोग भी शांति से रहना चाहेंगे। इसी मत का समर्थन दो हजार साल पहले बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने भी किया था।[19]

३.सामाजिक आर्थिक कल्याण:- यादि विश्व में शांति स्थापित करनी है तो सभी देशों को मिल कर अपने रक्षा बजट में कटौती करके मूल समस्याओं जैसे गरीबी, बेरोजगारी, बीमारी, भूखमरी, असुरक्षा की भावना, हताशायें दूर करें। जब सभी देश ऐसा सोचेगें तो विश्व अपने आप शांति के पथ पर अग्रसर होगा। हमारे महामहिम राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम ने विश्व शांति हेतु उपर्युक्त बातों को तीन सूत्रों में बांध दिया है यथा प्रारम्भिक स्तर पर बच्चों को नैतिक शिक्षा दी जाये, आर्थिक सम्पन्नता हो, सभी आध्यात्मिक आन्दोलन में सम्मलित हों। जब समाज इनका पालन करेगा तो विश्व में शांति स्थापित हो सकती है।

गहराई से अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि जहाँ भारतीय दर्शन, ऋतु, ऋण, ज्ञान की बात करता है, यदि इनको सही रूप में समझा जाये और प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में धारण करे तो विश्व शांति स्थापित हो सकती है। सारा भारतीय दर्शन इस बात पर आग्रह करता है कि संसार के सभी लोग सुखी व नीरोग रहें जो विश्व शांति का रूप है। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन कहते हैं कि जहां पर 'मैं' और 'तुम' हम और 'वे' आ जाते हैं वहीं सामाजिक संघर्ष तथा राग-द्वैष पैदा होते हैं जिससे व्यक्विादी तथा अहम् जन्म ले लेते हैं जो अशांति का प्रतिफल है। वर्तमान में दूसरे खाड़ी युद्ध का यही मुख्य कारण रहा है। नागार्जुन कहते हैं यदि हम स्वार्थ की जगह परार्थ, व्यक्ति की जगह समाज को रखेंगे तो

19. डॉ. हरनारायण मिश्र, नागार्जुन की शून्यता की अवधारणा में विश्व शांति, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के 48वे अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण, 27 से 30 जनवरी 2003.

शांति स्थापना होगी अन्यथा नहीं। फिर कहते हैं एक सीमित दृष्टि से अपने को बांध कर न रखो वरना विश्व शांति एक स्वप्न बन कर रह जायेगी।[20]

शोध पत्र के अन्त में हम यह कहना चाहेंगे कि U.N.O. ने आलपोर्ट महोदय की बातों को तो स्वीकार किया है परन्तु अफगानिस्तान-अमेरिका युद्ध तथा दूसरे खाड़ी युद्ध में U.N.O. क्या अमेरिका को उचित पुरस्कार या दण्ड देगा। अमेरिका ने आम जनमानस का सम्मान नहीं किया और शहरों पर बम्बारी की, क्या उचित था? क्या U.N.O. इनका पुनर्वास करेग? जब अमेरिका ने U.N.O. के नियमों की अवहेलना ही है, क्या यह U.N.O. के अस्तित्त्व पर प्रश्न चिह्न नहीं है? यदि विश्व में ऐसे देशों पर अंकुश न लगाया गया तो विश्व शांति की बात तो दूर हो सकता है पृथ्वी वाष्प बन जायेगी।

निष्कर्ष तौर पर यह कहा जा सकता है कि शांति स्थापना के लिए मानव को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक क्षेत्र में परिवर्तन करने होंगे तथा समानता लानी होगी। सभी क्षेत्रों में मानव का सम्मान करते हुए उसे साध्य समझेंगे तो विश्व में शांति स्थापना अवश्य होगी।

डॉ. रोहतास कुमार सुथार
एम.फिल. पीएच.डी., डी.लिट् (दर्शनशास्त्र)
प्रवक्ता, राजकीय महाविद्यालय आदमपुर
हिसार (हरियाणा) 125052

20. वही.

प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा

किसी भी समाज अथवा देश की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि उस समाज अथवा देश में स्त्रियों की दशा कैसी है? इस दृष्टि से भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही स्त्रियों को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इस सम्बन्ध में अल्तेकर का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि विश्व की लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन करते समय हम जितने प्राचीनतम काल की ओर जाते हैं, स्त्री का स्थान समाज में उतना ही असन्तोषजनक पाते हैं। जबकि इसके विपरीत जब हम भारतीय सभ्यता के प्राचीनतम काल पर दृष्टिपात करते हैं, तो स्त्रियों का स्थान समाज में उतना ही महत्त्वपूर्ण पाते हैं।[1]

भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति शिक्षा प्राप्त करती थी। ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में वे किसी भी प्रकार पुरुषों से कम नहीं थी। वैदिक साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि पुरुषों की भाँति उनका भी उपनयन संस्कार होता था और वे विना किसी भेदभाव के उच्चतम आध्यात्मिक और सांस्कृतिक ज्ञान प्राप्त करती थी। ऋग्वेद में लगभग 20 ऐसी विदुषी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने अनेकानेक सूक्तों की रचना की थी। इनमें लोपामुद्रा, विश्ववारा, आपाला, इन्द्राणी, रोमशा, सिकता, निवावरी, काक्षीवती घोषा तथा उर्वशी आदि स्त्रियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] अन्यत्र ऋग्वेद में विदुषी पुत्री का विवाह विद्वान् पति के साथ करने की अनुमति दी गई है।[3] यजुर्वेद के अनुसार कन्या का विवाह ब्रह्मचार्यवस्था समाप्त कर लेने के पश्चात् ही करना चाहिए।[4] जबकि अथर्ववेद के अनुसार विवाहोपरान्त वही स्त्री सफल हो सकती है जिसे ब्रह्मचर्य काल में भली-भाँति शिक्षित किया गया हो।[5] चूँकि इस काल में यज्ञों एवं धार्मिक अनुष्ठानों का बहुत महत्त्व था और व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ ही यज्ञ कर सकता था।[6] इसलिए स्त्रियों को विशेष रूप से वैदिक साहित्य की शिक्षा दी जाती थी ताकि वे धार्मिक क्रियाओं में अपने पति के साथ भाग ले सकें उपनिषदों में भी अनेक ऐसी विदुषी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं जो दर्शन, तत्त्वज्ञान ओर तर्क में निपुण थी। वृहदारण्यक उपनिषद् में विदेहराज जनक की राजसभा में गार्गी और याज्ञवल्क्य के बीच वाद-विवाद का वर्णन मिलता है जिसमें गार्गी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा, विलक्षण तर्क शक्ति, मेधा और सूक्ष्म विचार तन्तुओं से दुरूह प्रश्नों की बौछार करके याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान् महापुरुष को मूक

1. ए0 एस0 अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ0 155
2. ऋग्वेद, 1/179, 5/28, 8/91, 9/86, 10/39-40, 10/95, 1/126/7, 10/86
3. वही, 3/5/65
4. यजुर्वेद, 8/1, 'उपयाम गृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा' विष्णऽउरूगायैष सोमस्तं रक्षस्व मा त्वादभन।।
5. अथर्ववेद, 9-5-18, 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'।
6. शतपथ ब्राह्मण, 5/1/6/10, 'अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः'।

कर दिया था।[7] याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी अत्यन्त विदुषी और ब्रह्मवादिनी महिला थी जो सांस्कृतिक मोहमाया से दूर रहकर आध्यात्मिक चिन्तन में लीन रहती थी।[8] इसके साथ-साथ उपनिषदों में कुछ ऐसी विशिष्ट क्रियायों का उल्लेख मिलता है जिसे लोग विदुषी कन्याओं को पुत्री के रूप में प्राप्त करने की कामना से करते थे।[9] इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में स्त्रियाँ पुरुषों के समान ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थी और विना किसी भेदभाव के उच्चतम बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करती थी।

सूत्रसाहित्य में भी स्त्री शिक्षा का उल्लेख मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार स्त्रियों का भी समावर्तन संस्कार होता था, यह स्पष्ट करता है कि उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था।[10] आपस्तम्ब ने भी पण्डिता स्त्रियों के परिपक्व ज्ञान और उनकी विद्वत्ता की चर्चा की है।[11] गोभिल और काठक गृह्यसूत्र से पता चलता है कि दुल्हिने पढ़ी-लिखी होती थी, क्योंकि विवाह संस्कार के समय उन्हें मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता था।[12] काठक गृह्यसूत्र के अनुसार स्त्रियों को संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी।[13] मानव गृह्यसूत्र में भी इसका उल्लेख मिलता है।[14] इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकाल में पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती थी। हारीत के अनुसार इस काल में दो प्रकार की स्त्रियाँ होती थी- एक सद्योवधू और दूसरी ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू स्त्रियाँ वे होती थी जो विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन करती थी। इन्हें प्रार्थना और यज्ञों के लिए आवश्यक महत्त्वपूर्ण मन्त्र पढ़ाये जाते थे तथा संगीत और नृत्यकला की भी शिक्षा दी जाती थी। तत्पश्चात् वे विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थी। जबकि ब्रह्मवादिनी वे होती थी जो विवाह एवं गार्हस्थ्य जीवन का त्याग कर आजीवन विद्याध्ययन करती हुई अनवरत तपस्या और अनुशासन का जीवन व्यतीत करती थी।[15] पाणिनि के अनुसार स्त्रियाँ मीमांसा एवं व्याकरण शास्त्र जैसे जटिल विषयों का भी अध्ययन करती थी।[16] उनके अनुसार आपिशलि आचार्य के व्याकरण को पढ़ने वाली 'आपिशला' और काशकृत्स्नि आचार्य की मीमांसा का अध्ययन

7. बृहदारण्यक उपनिषद, 3/6/8
8. वही, 3/4/3, 4/51,
9. वही, 6/4/17, 'अथ या इच्छेत-दुहिता में पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै।'
10. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3/8/11,
11. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, 2/2/29/12,15,
12. गोभिल गृह्यसूत्र, 2/1/19-20, काठक गृह्यसूत्र, 25/23,
13. काठक गृह्यसूत्र, 17/2,
14. मानव गृह्यसूत्र, 1-9-29
15. हारीत धर्मसूत्र, 21/20-24, 'द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्य: सद्योवध्वश्च।'
16. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ0 103

करने वाली स्त्री 'काशकृत्स्ना' कहलाती थी।[17]

महाकाव्यों से ज्ञात होता है कि स्त्रियों की शिक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। रामायण में राम के युवराज पद पर अभिषेक के अवसर पर कौशल्या के यज्ञ करने का[18] और बालि के युद्ध में प्रस्थान करने से पूर्व उसकी पत्नी तारा के द्वारा यज्ञ का उल्लेख मिलता है।[19] जिससे पता चलता है कि ये दोनों नारियाँ मन्त्रविद् (वैदिक साहित्य की ज्ञाता) थी। सीता प्रतिदिन वैदिक सूक्तों द्वारा सन्ध्या-पूजन करती थी।[20] महाभारत के अनुसार कुन्ती अथर्ववेद[21] में गान्धारी अर्थशास्त्र[22] में द्रौपदी नीतिशास्त्र[23] में तथा सुभद्रा, दमयन्ती, विदुला एवं सत्यवती राजनीतिशास्त्र[24] में प्रवीण थी। महाभारत में द्रौपदी और अरुन्धती को पण्डिता और ब्रह्मवादिनी कहा गया है।[25] वैदिक शिक्षा के अतिरिक्त स्त्रियों को इतिहास एवं पुराण आदि विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी।[26] क्षत्रिय स्त्रियों को सैन्य विद्या की शिक्षा भी दी जाती थी ताकि आवश्यकता पड़ने पर युद्ध क्षेत्र में वे अपने पति का साथ दे सके। कैकेयी इसका उदाहरण है। कौटिल्य अर्थशास्त्र मे भी स्त्रियों द्वारा सैन्य शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों को संगीत, नाट्य, वाद्य तथा चित्र आदि ललित-कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा को अर्जुन से संगीत की शिक्षा दिलाई थी।[27] शुक्र ने भी अपनी पुत्री देवयानी को अपने आश्रम में संगीत, नृत्य एवं वाद्य की शिक्षा दी थी।[28]

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में भी स्त्रियों के विदुषी एवं सुपण्डिता होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। बुद्ध द्वारा स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दिये जाने के कारण भी अनेक स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर मिला। जिससे बहुत सी स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों में ज्ञान प्राप्त करने लगी। थेरीगाथा में लगभग 50 ऐसी थेरियो (स्थविर-स्त्रियों) के उल्लेख मिलते हैं जो कवियत्रियाँ थी। इनमें

17. वही, पृ0 103
18. रामायण, 2/20/15, 'सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।' अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवित् कृतमंगला।।
19. वही, 4/16/12, 'ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्विजयैषिणी।'
20. वही, 5/15/48, 'सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।' नदीं चेमां शुभ्रजलां सन्ध्यार्थ वरवर्णिनी।।
21. महाभारत, 3/305/20,
22. वही, 1/57/94,
23. वही 3/33/57-58,
24. वही, 1/96/1, 3/57/11, 5/130/5, 5/88/74, 5/134/12, 17/1/7,
25. वही, 4/1/3, 12/2/83, 12/14/6-39
26. वही, 13/5/2, रामायण, 2/26/4, 2/39/8-9
27. वही, 4/11/8,
28. वही, 1/17/28, 4/20/12,

से 32 ऐसी थी जो आजीवन ब्रह्मचारिणी रही थी और 18 ने वैवाहिक जीवन के पश्चात् भिक्षु व्रत ग्रहण किया था। इनमें शुभा, सुमेधा और अनोपमा के नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये महिलाएं सम्भ्रान्त कुलों में उत्पन्न हुई थी और अनेक राजकुमार इनसे विवाह के लिए उत्सुक रहते थे, परन्तु इन्होंने सांसारिक जीवन का परित्याग कर भिक्षुणी जीवन व्यतीत करना स्वीकार किया।[29] इनके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों में खेमा, सुभद्रा, अमरा, उदुम्बरा, भद्रकण्डलकेशा, चन्दना, सुक्का, जयन्ती तथा धम्मदिन्ना आदि स्त्रियों के नाम मिलते हैं जो अपने ज्ञान, विद्वता एवं तर्कविद्या के लिए प्रसिद्ध थी। भिक्षुणी खेमा विनय में पारगंत थी। वह अत्यन्त विदुषी, बुद्धिमती, वाग्मी, सुशिक्षिता तथा प्रतिभाशाली महिला थी। उसकी ख्याति इतनी दूर-दूर तक फैली हुई थी कि उसकी विद्वता की प्रशंसा सुनकर कोशल नरेश प्रसेनजित स्वयं उसकी सेवा में गये ओर अनेक दर्शनिक विषयों पर उससे विचार-विमर्श किया।[30] सयुक्तनिकाय के अनुसार भिक्षुणी सुक्का वाग्मिता में अत्यन्त प्रवीण थी। धम्मदिन्ना 'धम्म' में पारंगत महिला थी और उसे उन भिक्षुणियों में सर्वप्रधन माना जाता था जो महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करने के लिए उपयुक्त क्षमता रखती थी। जयन्ती ने स्वयं महावीर स्वामी से वाद-विवाद किया था और बाद में जैन धर्म में दीक्षित हो गयी थी।[31] चन्द्रना नामक स्त्री ने सांसारिक भोग-विलास का त्याग कर जैन धर्म स्वीकार कर लिया था और अपनी विद्वता के कारण महावीर स्वामी के समय मे जैन स्त्री संघ की अध्यक्षा बन गयी थी। भद्रकुण्डलकेशा एक अत्यन्त उच्चकोटि की विदुषी महिला थी। वह पहले जैन धर्म की अनुयायी थी परन्तु बुद्ध के अन्यतम शिष्य सारिपुत्र के सम्पर्क में आने पर उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी।[32] एक जातक में उदुम्बरा को शिक्षिता कहा गया है।[33] वही दूसरे जातक में अमरा को एक विदुषी एवं गृह कार्य में कुशल महिला के रूप में प्रदर्शित किया गया है। एक अन्य जातक के अनुसार एक जैन पिता की चार पुत्रियाँ देश भर में भ्रमण करती हुई लोगों से दर्शन-शास्त्र पर वाद-विवाद करती थी।[34] इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में संघमित्रा, अंजली, उत्तरा, काली सुपत्ता, चन्ना, पटच्चरा, उपाली और रेवती आदि अनेक ऐसी विदुषी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं जो विनयपिटक में पारंगत थी और उसका अध्यापन भी बड़ी योग्यता के साथ कर सकती थी। स्त्रियाँ केवल साहित्यिक शिक्षा ही प्राप्त नहीं करती थी अपितु वे नृत्य, संगीत एवं चित्रकला आदि विद्याओं में भी निपुणता प्राप्त करती थी। राजा रुद्रायन की पत्नी चन्द्रप्रभा प्रसिद्ध नृत्यागंना थी।[35]

29. जे. आई0 एच0, 32/3
30. सयुक्तनिकाय, 12-20,
31. भगवतीसूत्र, भाग 3, पृ0 257,
32. जातक संख्या, 542
33. जातक, 6/25,
34. जातक संख्या, 301,
35. रुद्रायणावदान, पृ0 470,

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी शिक्षण कार्य करती थी। पाणिनि के अनुसार जो स्त्रियाँ अध्यापन कार्य करती थी वे 'आचार्या' और 'उपाध्याया' कहलाती थी।[36] पाणिनि ने महिला-विद्यालय (छात्रीशाला) का भी उल्लेख किया है।[37] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्त्री आचार्यो का उल्लेख मिलता है।[38] शांखायन गृह्यसूत्र में भी गार्गी, वाचक्नवी तथा वडवा आदि स्त्रियों के विषय में कहा गया है कि वे शिक्षिकाएं थी।[39] बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार भी स्त्री अध्यापिकाएं होती थी।[40] अवदानशतक में पद्मावती नामक एक उपाध्यायिका का उल्लेख मिलता है।[41] पतंजलि ने भी महिला अध्यापिकाओं का उल्लेख किया है। उन्होंने तो यहाँ तक कहाँ है कि इन अध्यापिकाओं से पुरुष छात्र भी पढ़ते थे जैसे 'औदमेध्या' आचार्या से पढ़ने वाले छात्र अपनी आचार्या के नाम से 'औदमेध' कहलाते थे।[42] कात्यायन ने अपने वार्तिक मे स्त्री शिक्षिकाओं को उपाध्यायी कहा है। उनके अनुसार समाज में स्त्री अध्यापिकाओं की संख्या बहुत अधिक थी। अगरकोष में स्त्री 'उपाध्याया' और वैदिक मन्त्रों की शिक्षिता 'आचार्या' का उल्लेख मिलता है।[43] इससे स्पष्ट होता है कि महिलाओं में केवल प्रभूत शिक्षा का प्रचार ही नहीं था वरन् वे विभिन्न विषयों में विशेषज्ञता भी प्राप्त करती थी।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक काल से लेकर ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी तक स्त्रियों को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार था, लेकिन शनैः शनैः ह्रास होने लगा। स्त्रियों को उपनयन संस्कार के अधिकार से वंचित कर दिया गया। जिसके परिणामस्वरूप वे वैदिक शिक्षा प्राप्त करने की अधिकारिणी नही रही। फलत: वैदिक ग्रन्थों का ज्ञान न होने के कारण वे न तो शूद्रों के समान वेदमन्त्रों का उच्चारण कर सकती थी और न यज्ञों में भाग ले सकती थी। बाल विवाह के कारण उनकी दशा और भी अधिक दयनीय हो गयी क्योंकि कम आयु में विवाह हो जाने के कारण उनके लिए यह सम्भव नहीं रहा कि वे ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर शिक्षा प्राप्त कर सके। मनु के अनुसार पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उनका उपनयन संस्कार तथा पति की सेवा और गृहकार्य ही उनकी धार्मिक क्रियाएँ बन गयी।[44] यम के अनुसार शिक्षण संस्थाओं में जाना

36. अष्टाध्यायी, 4/1/59, 3/3/21,
37. वही, 6/2/86, '6/2/86, 'छात्र्यादय: शालायाम्।'
38. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/7/21/9,
39. शांखायन गृह्यसूत्र, 4/10/3,
40. महावस्तु, 2/225/2, सौन्दरानन्द, 18/20,
41. अवदानशतक, 2/51/7,
42. महाभाष्य, 4/1/47, 'औदमेध्यायाश्छात्रा औदमेद्या:।'
43. अमरकोष, 2/6/14,
44. मनुस्मृति, 2/67, वैवाहिको विधि: स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मत:' पतिसेवा गुरौर्वासौ गृहार्थोग्नि परिक्रिया।।'

कन्या के लिए अतीत की बात हो गयी थी, वह केवल घर पर ही पिता, भाई तथा बन्धु आदि से शिक्षा प्राप्त कर सकती थी।[45] परवर्ती टीकाकारों में मेधातिथि तथा अपरार्क ने भी इसका समर्थन किया है। यही कारण है कि नालन्दा और विक्रमशीला जैसे विश्वविद्यालयों में जहाँ सहस्रों पुरुष छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे वहाँ एक भी स्त्री छात्र का उल्लेख नहीं मिलता।

इस प्रकार समाज में स्त्रियों के ऊपर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये जिसके कारण साधारण परिवारों में स्त्री-शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध हो गया। लेकिन उच्च परिवारों तथा राजघरानों में अब भी स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यद्यपि अब उन्हें वैदिक शिक्षा नहीं दी जाती थी पर साहित्य की शिक्षा उन्हें पर्याप्त मात्रा में मिलती थी जिससे वे संस्कृत और प्राकृत भली-भाँति पढ़ और समझ सकती थी। हाल की गाथा सप्तसती में रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहई, बद्धवाही तथा शशिप्रभा आदि सात कवित्रियों की रचनाएँ संग्रहित है।[46] पुराणों में अनेक ऐसी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं जो ब्रह्मवादिनी थी। इनमें अपर्णा, एकपर्णा, एकपटला, मेना, धारिणी, संनति तथा शतरूपा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कतिपय संस्कृत ग्रन्थों में भी अनेक स्त्रियों की उच्चकोटि की रचनाएँ मिलती है, इनमें शील भट्टारिका, देवी, इन्दुलेखा, सुनन्दा, मल्लामोरिका, तिरुमबांला, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, मरुला, भवदेवी, पद्मश्री, लक्ष्मी, प्रियंवदा, वैजयन्ती, कमला, गंगादेवी, त्रिवेणी, विकटनितम्बा एवं विजयाङ्का के नाम विशेष उल्लेखनीय है।[47] राजशेखर के नाटकों से ज्ञात होता है कि राजसभा की स्त्रियों और रानियों की सेविकाएँ संस्कृत और प्राकृत में मनोहारी श्लोकों की रचना कर सकती थी।[48] स्वयं राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी संस्कृत साहित्य में पारंगत थी। वाचस्पति मिश्र की पत्नी भामती

धार्मिक और दार्शनिक विषयों में रुचि रखती थी।[49] उपमितिभवप्रपंचकथा मे दी गई कथाओं से स्पष्ट होता है कि अनेक राजकुमारियाँ चित्रकला, संगीत और कविता करने में निपुण होती थी।[50] इसके अतिरिक्त कुछ स्त्रियाँ तर्क-वितर्क में भी रुचि रखती थी। भागवत् पुराण के अनुसार राजा 'प्राक्षायण' की दो पुत्रियाँ मीमांसा तथा दर्शनशास्त्र की विद्वान् थी।[51]

45. संस्कारप्रकाश, पृ0 402-03
46. गाथासप्तशती, 1/70, 86-87, 90-91, 2/63, 3/28, 63, 74, 76, 4/4,
47. कृष्णमाचारी, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ0 391-379,
48. काव्यमीमांसा, 10/53 'पुरुषवद्योषितोऽपि कवी भवेयुः श्रूयन्ते च राजपुत्र्यो महामात्र दुहितरो गणिकाः कौटुंबिकभार्याश्च शास्त्रप्रहितबुद्धयः कवयश्च।'
49. राजबली पाण्डेय, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ0 146,
50. उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 345, 453-59, 875-92,
51. भागवतपुराण, 4/1/64, 'तेभ्यो दधार द्वे कन्ये वयुनां वयुनां धारिणी स्वधा। उभे ते ब्रह्मवादिन्यो ज्ञानविज्ञानपारगे।।'

मण्डनमिश्र की पत्नी भारती अपनी विद्वता और तर्क के लिए प्रसिद्ध थी। मण्डनमिश्र और शंकराचार्य के बीच जो शास्त्रार्थ हुआ था उसका निर्णय करने के लिए मण्डनमिश्र की पत्नी निर्णायक नियुक्त हुई थी।[52] उत्तररामचरित के अनुसार आत्रेयी ने बाल्मीकि तथा अगस्त्य से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण की थी।[53] भवभूति के दूसरे नाटक मालती माधव से पता चलता है कि भूरिवसु तथा देवराट् के साथ कामान्दकी भी विद्या का अध्ययन करती थी।[54] कतिपय महिलाओं ने आयुर्वेद पर भी पाण्डित्यपूर्ण और प्रामाणिक ग्रन्थों की रचनाएं की थी जिसमें रूसा का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[55] बारहवीं सदी के गणितज्ञ भास्कर द्वितीय ने अपनी पुस्तक की रचना की थी। इससे सिद्ध होता है कि कुछ स्त्रियाँ गणित में भी रुचि रखती थी।

स्त्रियों को साहित्यिक शिक्षा के साथ-साथ गृह-विज्ञान तथा ललित-कलाओं यथा संगीत, चित्रकला, नृत्य, माल्य ग्रंथन आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। वात्स्यायन के अनुसार कन्याओं को पुस्तकवाचन, काव्य, पुराण, प्रहेलिका, नृत्य, संगीत तथा चित्रकला आदि चौषठ कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।[56] कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्रम् के अनुसार मालविका की नाट्य-परीक्षा की मध्यस्थता करने वाली भी एक स्त्री थी जो विदर्भ के राजा माधवसेन के मन्त्री की बहिन थी।[57] हर्षचरित में राज्यश्री द्वारा नृत्य, संगीत तथा अन्य कलाओं में प्रवीणता प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है।[58] इसी प्रकार कादम्बरी में राजकुमारी कादम्बरी तथा महाश्वेता के एक साथ नृत्य, संगीत तथा अन्य विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। साधारण परिवारों में कन्याओं को मुख्य रूप से गृह-विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी क्योंकि यह माना जाता था कि स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम की कर्णधार होती है और आदर्श स्त्री हीं आदर्श पुत्र, आदर्श परिवार और आदर्श समाज का निर्माण कर सकती है।

राजपरिवार की कन्याओं को साधारण शिक्षा के साथ-साथ प्रशासकीय और सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे इससे लाभ उठा सके। भारतीय इतिहास में ऐसी अनेक महिलाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होनें आवश्यकता पड़ने पर सफलतापूर्वक शासन किया तथा युद्ध में सेना का नेतृत्व किया। इनमें सातवाहन राजवंशी नागानिका तथा वाकाटकवंशी प्रभावती गुप्ता ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अपने अल्पव्यस्क पुत्रों की संरक्षिका बनकर कुशलतापूर्वक शासन का संचालन किया। चालुक्य

52. शंकरदिग्विजय, 8/51, 'विधाय भार्या विदुषी सदस्यां विधीयतां वादकथा सुधीन्द्र।'
53. उत्तररामचरित, अंक 2, 'तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वदिह संचरामि।'
54. ए0 एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 159,
55. सुलेमान नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ0 122,
56. कामसूत्र, 1/3/16,
57. मालविकाग्निमित्रम्, अंक 2,
58. हर्षचरित, (अनुवाद) पृ0 141-142,

वंश की अनेक रानियों तथा महिलाओं ने जिनमें विजयभट्टारिका, अक्कादेवी मैला देवी, कुङ्कुम देवी तथा लक्ष्मी देवी के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है साम्राज्य के प्रान्तों तथा जिलों के शासकों के रूप में कार्य किया।[59] इसी प्रकार कश्मीर की अनेक रानियों दिट्टा, सुगन्धा, सूर्यमती तथा रत्नादेवी ने कुशलतापूर्वक शासन का संचालन किया और युद्ध में सेना का नेतृत्व किया।[60]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम शताब्दी के बाद जहाँ साधारण परिवारों की कन्याएँ घर पर ही पिता, भाई एवं अन्य सम्बन्धियों से थोड़ी बहुत साहित्यिक शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हो जाती थी, वहाँ उच्चवर्ग की कन्याएँ साधन उपलब्ध हो जाने के कारण सभी प्रकार की उच्च साहित्यिक, कलात्मक, राजनीति तथा युद्ध सम्बन्धी शिक्षाएँ प्राप्त कर लेती थी। सामाज में इस प्रकार की स्त्रियों की संख्या लगभग पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं थी।[61]

डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्रवक्ता
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

59. एपिग्राफिया इण्डिका, 9/274, 18/37,
60. राजतरंगिणी, 7/905, 909, 931, 1137, 1139
61. ए0 एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 1666।

हिन्दी भाषा व साहित्य को महर्षि दयानन्द की देन

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा गुजराती होते हुए भी देश को एक सूत्र में बांधने व उसके विकासोन्मुखी होने के लिए प्रचार-प्रसार के लिए संस्कृत के स्थान पर जनसंख्या की भाषा हिन्दी को अपनी लेखनी के लिए अपनाना एक क्रांतिकारी कदम था। यह सत्य विशेष रूप से उस समय और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब कि इस हिन्दी साहित्य के आदिकाल के उन्नायक महर्षि दयानन्द सरस्वती हिन्दी के पूर्व साहित्यक काल '**रीतिकाल**' या '**श्रृंगार काल**' तथा '**आधुनिक काल**' के संधि समय में ही हुए थे तथा श्रृंगारिकता के दुष्परिणाम स्वरूप देश को जो पराधीनता का मुंह देखना पड़ा था उससे जनमानस को बचाने के लिए उन्होंने न केवल जनभाषा **हिन्दी की खड़ी बोली में प्रचार प्रारम्भ किया अपितु हिन्दी साहित्य का मुख स्वाधीनता, स्वावलम्बन, देशभक्ति, पूर्व वैभव के स्मरण व अन्धविश्वासों को समूल ऊखाड़ने की ओर भी मोड़ दिया।**

इसके कारण तत्कालीन युगाचार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जोश्रृंगार काव्य द्वारा ही अपना लेखन कार्य आरम्भ कर चुके थे को भी इसी उल्टी गंगा के बहाव में बहने के लिए बाध्य होना पड़ा। सर्वप्रथम महर्षि ने तथा उनके उत्तराधिकारी आर्य समाज ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में कोई कसर न छोड़ रखी थी। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि यदि आप हमारे साहित्य को पढ़ना चहाते हो तो **हिन्दी सीखो,** विदेशियों को भी ऐसी ही शिक्षा उन्होंने दी। सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना के साथ ही सर सैयद अहमद खां, फ्रांसीसी विद्धान् मार्सा-द-तासी, संयुक्त प्रांत शिक्षा विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष मि0 हैवल, काशी के राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द आदि उन लोगों को जो हिन्दी को गंवारों की भाषा कहते हुए इसका विरोध कर रहे थे तथा इसमें फारसी शब्द मिला रहे थे के झूठ का भण्डा चौराहे में फोड़ कर जनसामान्य को हिन्दी-विरोधी होने से बचाते हुए उन्होंने बताया की हिन्दी एक सशक्त भाषा है। इस देश के प्रत्येक कोने में उसे समझने वाले लोग रहते हैं। इसमें हर प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति हो सकती है। उनकी इस बात को राजनारायण बसु, भूदेव मुखर्जी तथा कालीचरण काव्यविशारद जैसे युग के उन महान् नेताओं की प्रेरणा कह सकते हैं जो हिन्दी को स्वाधीनता का मार्ग मानते थे। स्वामीजी द्वारा स्थापित आर्य समाज इस प्रकार का एक प्रथम आन्दोलन था' जिसने हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार और हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का सर्वप्रथम प्रयास किया। मिश्रबन्धु विनोद तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य ग्रंथों में इस तथ्यों को भली भांति स्वीकार किया है हिन्दी अपनाने के पश्चात् स्वामी दयानन्द सरस्वती केवल कुछ ही समय जीवित रहे इस सूक्ष्म समय में उन्होंने हिन्दी भाषा, वेद प्रचार के अतिरिक्त अनेक ग्रंथों का लेखन कर हमें धरोहर के रूप में दे गए। जिनमें उनकी वह आत्मकथा भी एक है जिसको हिन्दी समुदाय हिन्दी गद्य साहित्य की प्रथम प्रकाशित आत्मकथा के रूप में स्वीकार कर चुका है। इन ग्रंथों में सत्यार्थ प्रकाश एक अद्भुत ग्रंथ है जिसे विश्व की अनेक भाषाओं में

अनुवाद कर लाखों की संख्या में छपवाया गया, और लोगों ने करोड़ो की संख्या में पढ़ा है।

हिन्दी साहित्य को महर्षि दयानन्द ने नई दिशा दी उन्होंने **वीरोचित** मार्ग अपनाते हुए जहाँ इसे शांत, वीर व उत्साह के भाव प्रदान किए वहाँ साहित्य में उपहासात्मक वृत्ति का भी उदय किया, यथा अन्धविश्वासी ब्राह्मण को पोप, अभिमानी को गवर्गंड सरीखे शब्द देकर हिन्दी में नए शब्दों का सृजन भी किया (पाखण्डी ब्राह्मणों को पोप की संज्ञा देना वस्तुतः उस ईसाइयत पर एक चोट थी जिसका सर्वप्रमुख आदर्श धार्मिक नेता पोप था। ऋषि दयानन्द ने उस पोप के साथ पाखण्ड का स्थायी सम्बन्ध जोड़ दिया-जयदेव आर्य) पुनरपि, पुनश्च, नैरोग्य आदि तथा सर्वतन्त्र, भुषुन्डी, विडालाक्ष आदि **संस्कृत के शब्दों का जो उनके संस्कृतज्ञ** होने तथा उनके गाम्भीर्य को दर्शाता है। वह संस्कृत के अनुसार ही हिन्दी में लिंगों का प्रयोग करते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व प्रताप नारायण मिश्र ने भी यही शैली स्वीकार की।

स्वामी जी अपनी भाषा को सशक्त बनाने के लिए मुहावरों व लोकोक्तियों का अत्यधिक प्रयोग करते थे। उन्होंने 'आंख का अंधा गांठ का पूरा', 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे' जैसे मुहावरों व लोकोक्तियों का भरपूर प्रयोग किया।

स्वामी जी ने गद्य के गुणों यथा ओज, सरलता, प्रवाह व रोचकता आदि को अपने साहित्य में विशेष स्थान दिया है। वह स्वदेश, स्वधर्म, स्वजाति व देशाभिमान की भावना भरने हेतु **ओज** युक्त शब्दों का प्रयोग करते थे। देवनागरी के महत्त्व को समझते हुए तो यहां तक कह जाते हैं कि विश्व भाषाओं की कोई भी लिपि इसकी प्रतिस्पर्धी नहीं हो सकती तथा तो रामधारी सिंह दिनकर ने उन्हें 'रणारूढ़ हिन्दुत्व का निर्भीक नेता' कहा है। स्वामी जी भाषा की सुबोधता व स्पष्टता के भी बहुत पक्षधर थे। उनकी भाषा में प्रसाद गुण प्रधान है, स्वामी जी में श्रोताओं व पाठको को अपने भाव प्रवाह में बहाने की क्षमता भी थी अतः वह प्रवाह गुण का भी समीचीन प्रयोग करते थे। वह अपने उद्धरणों को शास्त्रों प्रमाणों से पुष्ट भी करते थे। जिससे सुधि श्रोताओं का शास्त्रों से सम्बन्ध जुड़ता था। उनकी इस प्रवृत्ति का हिन्दी साहित्य पर दूरगामी प्रभाव पड़ा है। यहीं से हिन्दी साहित्य में प्रमाण ग्रन्थों के आधार पर विवेचना की प्रथा चली। स्वामी जी की शैली गाम्भीर्य एवं तर्कपूर्ण रही है, जिससे पाठकों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हजारों व्यक्ति इनके ग्रन्थ पढकर अंधविश्वासों से मुक्त हुए। स्वामी जी ने अपने लेखन व व्याख्यानों में कुरीतियों का खण्डन करते हुए रोषपूर्ण शब्दों में क्षोभ प्रकट किया है। स्वामी जी तथा आर्यसमाज की जिस शैली को उस काल के तथा अनुगामी युग के साहित्यकारों ने बड़े जोश के साथ अपनाया है वह है व्यंग्यात्मक शैली, यथा जन्म पत्र के लिए शोक पत्र, मन्त्र शक्ति पर कहना, अगर तुम्हारे मन्त्र में शक्ति है तो कुबेर क्यों नहीं बन जाते? तपोवन को भिक्षुक वन, पोपलीली के गपोड़े आदि का प्रयोग करते हुए अपनी विनोद वृत्ति का अच्छा प्रदर्शन किया है।

स्वामी जी ने गूढ़ विषयों को पाठकों के समक्ष बड़े सरल ढंग से रखने के लिए

दृष्टांत शैली का अवलम्बन किया। उन्होंने अनेक कथाओं, कहानियों आदि का भी समावेश किया है।

स्वामी जी ने एक नवीन साहित्यिक शैली आरम्भ की जिसे अनुगामी साहित्यकारों ने भी अपनाया है। वह शैली है "प्रश्नोत्तरी शैली" इसमें स्वयं एक प्रसंग रखकर उसका उत्तर विस्तार से समझाया जाता है। आप शास्त्रार्थों व व्याख्यानों में भी इसका प्रयोग करते थे।

स्वामी जी के प्रभाव से हिन्दी गद्य को भी नई दिशा मिली तथा अब तक अछूते रहे विश्व पर भी साहित्यिक कलमें उठने लगी। कथा कहानियों में दर्शनिकता भी पैदा हुई। समाज-सुधार, शास्त्रीय व वैज्ञानिक विषयों की विवेचना के साथ-साथ ही राजनीतिक प्रश्नों को भी हिन्दी साहित्य ने उठाना आरम्भ कर दिया। उनके साहित्य में दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक व राजनीतिक प्रश्नों की विवेचना की गई। वह लोकप्रिय है।

इस प्रकार से हजारों व्यक्तियों ने सत्यार्थ प्रकाश के माध्यम से हिन्दी सीखी बाबूश्याम सुन्दर दास के अनुसार सत्यार्थ प्रकाश और आर्य समाज के प्रभाव से पंजाब में हिन्दी का वह असर हुआ जिसकी कदापि आशा नहीं थी। इससे हिन्दी में गंभीर विवेचना की पद्धति आई तथा रोचक विनोदात्मक शैलियों का विकास हुआ और हिन्दी को जन-जन की भाषा बनाने में अनेक स्रोतों का सूत्रपात हुआ इसलिये आज मानव के चहुमुखी विकास में हिन्दी भाषा समाहित है।

डॉ0 संजील कुमार

"प्रबन्धन"-एक वैदिक दृष्टिकोण

प्रबन्धन की जिस अवधारणा को आज हम प्रयोग में लाते हैं, वह पश्चिमी देशों में विकसित हुई है। हम सभी जानते हैं, कि भारतीय एवं पश्चिमी सामाजिक जीवन की प्राथमिकतायें भिन्न हैं। इसी प्रकार भारतीय समाज संरचना पश्चिमी परिवारों से सर्वथा भिन्न है। प्रबन्धन की परिकल्पना तब ही कारगर हो सकती है, जब यह सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरूप हो। भारतवर्ष में इसीलिए, हमें अपनी प्रबन्धन शैली विकसित करनी होगी, जोकि हमारी श्रेष्ठताओं पर आधारित हो। हमारी भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठतायें वैदिक संहिताओं में निहित हैं, इसलिए भारतीय प्रबन्धन अवधारणा विना वैदिक विचारों के सम्भव ही नहीं हो सकती है।

पश्चिमी विद्वानों के अनुसार "प्रबन्धन सभी उपलब्ध संसाधनों के समुचित उपयोग से योजना, नियोजन, नेतृत्व एवं नियंत्रण द्वारा संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति करना है।[1]" इसके अनुसार प्रबन्धन के चार मुख्य स्तम्भ हैं।[2]

1.योजना

2.नियोजन

3.नेतृत्व

4.नियंत्रण

योजना के अन्तर्गत एक परिस्थिति का विश्लेषण, उद्देश्यों का निर्धारण और ऐसे कार्यपदों का अग्रिम निर्धारण करना होता है जो कि उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हों, योजना पूरे संगठन के लिए, विभिन्न इकाइयों के लिए और व्यक्तिगत कर्मियों के लिए भी बनाई जाती है। ये योजनायें लम्बे समय से लेकर बहुत छोटे समयकाल के लिए बनाई जाती है।

नियोजन का अर्थ है मानवीय, आर्थिक, शारीरिक एवं सूचना संसाधनों को एकत्र करना और अधिकतम उद्देश्य प्राप्ति के लिए कर्मचारियों, लक्ष्य एवं संसाधनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना।

नेतृत्व कला द्वारा प्रबंधक अपने कर्मचारियों में उच्च प्रदर्शन की इच्छा को जागृत करता है।

"Management is the process of planning, organizing, leading, and controlling the work of organization members and of using all available organizational resources to reach stated organizational goals." Management by Stoner, Freeman and Gilbert, Jr. PHI-1996.

"The key management functions include planning, organizing and staffing, leading and controlling." Management Functions &strategy by Bateman/zeithaml, Irwin-1993.

नियंत्रण द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठन की प्रगति का आकलन और यदि आवश्यक हो तो आवश्यक सुधार के उपाय।

वैदिक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय का विशेष स्थान है। पुरुषार्थ का अर्थ है जीवन का उद्देश्य। पुरुषार्थ है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष[3]। ज्ञान, मान, रति आदि मानव-जीवन की समस्त मूल प्रवृत्तियाँ, जिन्हें आज का पाश्चात्त्य-मनोविज्ञान भी अस्वीकार नहीं कर सकता-वे पुरुषार्थ-चतुष्टय में परिगणित अर्थ और काम में आ जाती है। परन्तु पाश्चात्त्य मनोविज्ञान के पीछे चल कर यदि अर्थ और काम को ही सारे जीवन की बागडोर सौंप दी जाए-तो मानव जीवन की गाड़ी किस अज्ञात और अथाह गर्त में गिरेगी, इसकी कल्पना असम्भव सी है।

पुरुषार्थ चतुष्टय में से 'अर्थ' का स्थान धर्म के पश्चात् एवं काम से पहले हैं। क्योंकि अर्थ, धर्म के मार्ग पर चलकर, इच्छाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। अर्थ की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों एवं आर्थिक गतिविधियाँ वैदिक काल से ही चल रही हैं। उन्हीं गतिविधियों के सुचारु संचालन के लिए विभिन्न आदर्श एवं नीतियाँ समय-समय पर विकसित हुई।

स्वप्रबन्धन

वेदान्त में वर्णित ''राजर्षि'' सिद्धान्त प्रभावी प्रबंधक के लिए आदर्श उदाहरण है। यह बताता है कि एक प्रबंधक को राजा जो कि नेतृत्व में सक्षम हो और साथ ही ऋषि, जो कि दैवीय गुणों से युक्त आदर्श मानव होता है, के समान होना चाहिए।

इस संतुलन से प्रबंधक स्वयं को भली प्रकार व्यवस्थित कर सकेगा। स्व प्रबंधन (Self Management) द्वारा व्यक्ति अपने विचारों, भावनाओं और कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकता है। स्व प्रबंधन के द्वारा एक प्रबंधक अपने प्रतिष्ठान को इसके उद्देश्यों के अधिक निकट ले जाता है। सभी प्रतिष्ठानों के कुछ अल्पावधि लक्ष्य होते हैं, लेकिन परम लक्ष्य हमेशा ध्यान में रखना चाहिए जो कि व्यक्तिगत प्रगति, संस्था की प्रगति और समाज की उन्नति है। उल्लेख है कि सफल प्रबंधक होने के लिए योग्यता, अनुभव, ज्ञान और कार्य कुशलता आवश्यक है, परन्तु इसके भी ऊपर आदर्श और भावानात्मक प्रौढ़ता अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही प्रबंधक का चिंतन सन्तुलित एवं विकसित होना चाहिए। भावनात्मक रूप से अव्यवस्थित प्रबंधक के ज्ञान, कार्यकुशलता एवं अनुभव का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय अवधारणा के अनुसार कार्य और कर्मचारियों का प्रबंधन ही सब कुछ नहीं प्रबंधक के लिए स्व प्रबंधन अत्यावश्यक है। नियमित ध्यान

3. The first three are in the Vedas and the Fourth is in the Vedic tradition.

से आन्तरिक प्रबंधन के लिए शक्ति मिलती है। सत्य ही कहा गया है, जो स्वयं को व्यवस्थित रख सकता है, वह ही दूसरी वस्तुओं को प्रभावशाली प्रकार से प्रबंधित कर सकता है।

संगठित कार्य

किसी भी कार्य की सफलता उस प्रयोजन में लगे हुए प्रत्येक व्यक्ति की सफलता है, इस हेतु Team Work का विशेष महत्त्व है। प्रबंधक स्वयं ही सभी निर्णय नहीं ले सकता। उसे एक अच्छे संगठन को खड़ा करना चाहिए जिससे समय-समय पर अन्य सदस्यों से विचार विमर्श किया जा सके, और प्रबंधक पर ही सम्पूर्ण बोझ न आ जाए। मनुस्मृति के अनुसार-

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।

विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम्।। 55/7।।

''इसके अनुसार सहायता लिए विना साधारण काम भी करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता है? इसलिए एक को राजा बनाना और उसी की बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमत्ता नहीं है।''

यदि यहाँ पर राजा की तुलना एक बड़े प्रतिष्ठान के CEO से करें तो उपरोक्त तथ्य एकदम सटीक बैठता है। CEO स्वयं प्रत्येक निर्णय नहीं ले सकता। आजकल व्यापारिक वातावरण अत्यन्त गतिशील है, और ऐसे में शिव के तृतीय नेत्र की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे CEO भविष्य को समझ सके, यहाँ पर उसकी Team निर्णय लेने में सहायता प्रदान करती है।

वैदिक संहिताओं में भी मानवीय प्रयासों में सहयोगात्मक रवैये के महत्त्व को बतलाया है, इसके द्वारा ही छोटे-छोटे प्रयास समाज की उन्नति में सहायक हो पाते हैं। प्रसिद्ध संगठन सूक्त इसी भावना को आलोकित करता हुआ संगठनों के प्रति वैदिक अवधारणा का चित्रण करता है।

संङ्गच्छध्वं सं वदध्वं संवो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।

समानो मन्त्रः समितिः समानी संमानं मनः सहचित्तमेषाम्

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये व समानेनं वो हविषा जुहोमि।। (ऋग. 10.191.2-3)

अर्थात् हमें सहयोगी के रूप में कार्य करना चाहिए, समान प्रयास करने चाहिए, समवाणी बोलें और समान विचार होवें। जो भी सहयोग में कार्य करता है, उसे अपना भाग अवश्य मिलता है। जो व्यक्ति संगठन में कार्य करते हैं, उनका एक ही लक्ष्य होना चाहिए जो कि सभी परामर्श द्वारा निर्धारित करना चाहिए।

कार्य विभाजन (Division of Labour)

हेनरी कियोल और आदम स्मिथ जैसे पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रबंधन का सिद्धान्त Division of Work भारतीय परम्परा में प्राचीन काल से विद्यमान है। Division of Work अर्थात् एक बड़े लक्ष्य को छोटे-छोटे लक्ष्यों में विभाजित करना, और तदनुसार छोटे लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रयास करना। इसमें मुख्य रूप से कार्य के अनुसार कर्मियों का नियोजन है, अर्थात् उपयुक्तता के अनुसार कार्य का वितरण करना। शुक्रनीति में कहा गया है-

बहुसाध्यानि कार्याणि तेषामप्यधियांस्तथा।

तत्तत्कार्येषु कुशलाञ्ज्ञात्वा तांस्तु नियोजयेत्।।123।।

अर्थात् कार्य उसी को सौंपा जाना चाहिए जो उसमें निपुण हो। शुक्रनीति की उपरोक्त नीति को ही वर्तमान Divsion of Work and Division of Labour जैसे सिद्धान्तों का नाम दिया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि कार्य केवल उसी को दिया जाये, जो उसमें निपुण हो, लेकिन अगले ही श्लोक में यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी क्षेत्र में निपुण होता है, आवश्यकता है, तो उसे पहचानने की।

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।

अयोग्य: पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभ:।। शुक्र 124।।

अर्थात् प्रत्येक शब्द एक मन्त्र है, प्रत्येक वनस्पति एक औषधि है, प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी कार्य में उपयोगी है। हाँ केवल कमी है तो एक ऐसे योजक की जो उन्हें गुणों के अनुरूप नियोजित कर सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कार्य विभाजन, नियोजन के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट एवं मानवीय था, जिसमें सकारात्मकता थी। यहाँ Rejection जैसे शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है, जो कि नकारात्मक हैं। निश्चित रूप से प्रबंधक से यही अपेक्षित रहता है कि आप अपने Resoures का कितना प्रभावशाली उपयोग करते हैं। हमारे पास उपलब्ध संसाधन सीमित है और प्राय: सभी संसाधनों का एक से अधिक प्रकार से उपभोग किया जा सकता है। इस लिए उपभोग इस प्रकार किया जाए जिससे संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने में अधिकतम सहायता मिले।

निरंतरता एवं जागरूकता

वर्तमान समय में एक कुशल प्रबंधक के लिए अत्यन्त आश्वयक है कि वह चारों ओर के वातावरण को लगातार ध्यान में रखे। व्यापार के लिए प्रतिष्ठान के बाहर और अन्दर दोनों का वातावरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आन्तरिक वातावरण पर प्रबंधक का नियंत्रण सम्भव है, किन्तु बाह्य वातावरण जिसके मुख्य कारक राजनैतिक, वित्तीय, जनसंख्या, विदेश नीति आदि हैं, किसी भी एक प्रतिष्ठान के नियंत्रण में नहीं रहते हैं। इन

बाह्य वातावरण में आए परिवर्तन सभी प्रतिष्ठानों को प्रभावित करते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में इन परिवर्तनों की गति अत्यन्त तीव्र हो गई है। प्रबंधक से अपेक्षित रहता है कि वह इन परिवर्तनों पर लगातार दृष्टि बनाए रखे और तदनुसार निर्णय ले। इसलिए आवश्यकता है निरतंरता एवं जागरूकता की। कहा गया है-

''इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।

यन्ति प्रमादमतन्द्राः।।[4] ऋ0 8.2.18।।

अर्थात् जो मनुष्य जागकर यज्ञ कर्मों में तत्पर होता है, उसी को देवता चाहते हैं। वे सोने वाले से प्रीति नहीं करते। देवजन स्वयं अतन्द्रालु होते हैं, अतः तन्द्रालु प्रमादी को दण्डित करते हैं।

यज्ञ कर्म अर्थात् शुभ कर्म हैं, एक प्रबंधक के लिए शुभ कर्म है कि वह किस प्रकार अपने प्रतिष्ठान के सभी Stakeholders के ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति की वृद्धि कर सके। इसके लिए उसे निरंतर जागरूक होकर कार्य करना होगा। जागरूक प्रबंधक को ही ग्राहक भी पसन्द करते हैं। एक जागरूक प्रबंधक ही अपने ग्राहकों को सन्तुष्ट रख सकता है। जागरूक होने का अर्थ ग्राहकों के बदलते व्यवहार एवं मांग को ध्यान में लगातार बनाए रखना। जब आप जागरूक होकर यह कार्य करते हैं, तो सफलता निश्चित है। पुनःश्च

यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।

यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।।[5] ऋ0 5.44.14

अर्थात् जो जागता है उसी से ऋचाएं प्यार करती हैं, जो जागता है उसी से साम प्यार करते हैं। जो जागता है उसी का सोमप्रभु सखा बनता है।

इस प्रकार वेदों में जागरूकता के महत्त्व को समझाया गया है। वेद कहता है कि जागरूकता जीवन का धन है। सम्भव है कि उपरोक्त वर्णन का एक पहलू आध्यात्मिक हो, किन्तु वेदमाता यहाँ हमें इसका भौतिक लाभ उठाने के लिए प्रेरित कर रही है। जागरूक व्यक्ति अथवा प्रबंधक द्वारा बदलती हुई परिस्थितियों से सामंजस्य बैठा सकता है। सामंजस्य के विना आपका प्रतिष्ठान वर्तमान प्रतियोगी दौर में अस्तित्त्वहीन हो सकता है। अतः वैदिक चिन्तन के अनुसार जागरूकता सफल प्रबंधन की कुंजी हो सकती है।

4. (देवाः) विद्वान् लोग (सुन्वन्तम्) जागकर यज्ञ करने वाले को ही (इच्छन्ति) चाहते हैं, (स्वप्नाय) निद्रालुता की, आलस्य की (न स्पृहयन्ति) चाह नहीं करते। (अनन्द्राः) स्वयं निद्रालु न होने वाले वे (प्रमादम्) प्रमादी को (यन्ति) दण्डित करते हैं।
5. (यः जागार) जो जागता है (तम्) उसे (ऋचः) ऋचाएं (कामयन्ते) चाहती हैं, (यः जागार) जो जागता है (तम् उ) उसे (सामानि) साम (यन्ति) प्राप्त होते हैं। (यः जागार) जो जागता है (तम्) उसे (अयं सोमः) यह सोम प्रभु (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (न्योकाः) घर बनाये हुए (अस्मि) हूँ।

दृढ़ संकल्पता

किसी भी गुरुतर कार्य को करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होना बड़ा महत्त्वकारी है। उदाहरण के तौर पर जो Project Management के सन्दर्भ में यह तथ्य अत्यन्त उपयोगी है कि Project की सफलता का सूत्र नेतृत्व की दृढ़ संकल्पता के कारण ही सम्भव हो पाया। 'The Makin of Lagan' पुस्तक इस भाव को अत्यन्त प्रभावशाली तरीके से बतलाती है।

वैदिक जीवन में व्रत ग्रहण का बहुत महत्त्व है। व्रत ग्रहण और दृढ़ संकल्पता जब किसी शुभ लक्ष्य के लिए किया जाता है, तब उसके अन्दर उस कार्य का सफलता पूर्वक निर्वाह करने की अपूर्व क्षमता आ जाती है। श्रुति कहती है-

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते।।[6] यजु0 19.30

'व्रतग्रहण' से मनुष्य दीक्षा को प्राप्त करता है। दीक्षा ले लेने पर कार्यपूर्ति या फल प्राप्ति रूप दक्षिणा मिलती है। दक्षिणा या फलप्राप्ति से उस कार्य के प्रति अन्यों की भी श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।'

अग्नि- समिन्धन की दीक्षा-सी लेता हुआ वैदिक स्तोता उद्गार प्रकट करता है-

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।

व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम्।।[7] यजुं0 20.24

हे व्रतपति अग्नि, मैं तुझमें समिधा का आधान करता हूँ। मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त करके दीक्षित होकर तुझे प्रज्वलित करता हूँ।''

यह केवल अग्निहोत्र की अग्नि का ही प्रदीपन नहीं है, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अग्नि-प्रदीपन तथा समिधाधान होता है। अग्नि प्रदीपन महारंभ का उपक्रम है। किसी भी महान् कार्य को आरम्भ करना अग्नि प्रदीपन है और उसे बढ़ाने के लिए तन, मन या धन अर्पण करना समिदाधान तथा आहुति प्रदान है।

प्रबंधन के क्षेत्र में किसी नये प्रतिष्ठान को प्रारंभ करना, कोई नया उपक्रम स्थापित करना, कोई उद्यम स्थापित करने का संकल्प ही अग्नि प्रदीपन है। यह अग्नि प्रदीपन शुभ कार्य के लिए जब होता है तब व्रत धारक में भी कार्य सम्पन्न कराने की असीम शक्ति आ जाती है। रिलायंस समूह द्वारा जामनगर स्थित रिफाइनरी दृढ़ संकल्पता का ऐसा उदाहरण है,

6. (व्रतेन) व्रत ग्रहण से (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है, (दक्षिणा) किसी व्रत में दीक्षित होने से (दक्षिणाम्) दक्षिणा को, फल-समृद्धि को (आप्नोति) प्राप्त करता है। (दक्षिणा) फल-समृद्धि से (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (आप्नोति) प्राप्त करता है, (श्रद्धया) श्रद्धा से (सत्यम्) सत्य (आप्यते) प्राप्त होता है।

7. (व्रतपते अग्ने) हे व्रतपति यज्ञाग्नि, मैं (त्वयि) तुझमें (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) रखता हूँ। मैं (व्रतं च श्रद्धां च) व्रत और श्रद्धा को (उपै) प्राप्त होता हूँ, (दीक्षितः अहम्) यज्ञकर्म में दीक्षित हुआ मैं (त्वा) तुझे (इन्धे) प्रज्वलित करता हूँ।

जो समस्त प्रबंधन छात्रों के लिए आदर्श होना चाहिए। समूह ने अपनी दृढ़ संकल्पता के कारण प्रतिष्ठान को समय से पूर्व प्रारम्भ किया तथा साथ ही उच्च मापदण्डों को बनाएं रखा। वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार व्रत ग्रहण से जो शक्ति मिलती है उससे ही कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जब व्रतों से कार्य सिद्ध होता हैं, तो सभी लोगों के लिए यह अनुभव आदर्श का कार्य करते हैं। और इस प्रकार सभी संस्थाएं एवं प्रतिष्ठान अपने-अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

अन्त में यह कहना प्रासांगिक होगा कि वैदिक संहिताओं में बिखरे हुए यह जीवन सूत्र सही प्रकार से एक माला में पिरोये जाए तो भारतीय प्रबंधन का एक अच्छा स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। चूंकि प्रबंधन विज्ञान और कला का एक ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण है जो कि संस्कृति-सभ्यता पर आधारित होता है, और भारतीय परिवेश के लिए हमें एक ऐसे ही माडल की आवश्यकता है, जो वैदिक मूल्यों पर आधारित हो।

संदर्भग्रन्थ

1.रामनाथ वेदालंकार (1991), वैदिक मधुवृष्टि, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली

2.सुरेन्द्र कुमार (1990), विशुद्ध मनुस्मृतिः, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली

3.महावीर (2001), वैदिक अर्थव्यवस्था, समानान्तर प्रकाशन नई दिल्ली

4.कृष्ण कुमार (1993), प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, प्राच्य विद्या अकादमी, हरिद्वार

5.दिलीप वेदालंकार (1982), वेदों में मानववाद, अमर भारती अन्तर्राष्ट्रीय बड़ोदरा

6-Bateman T.S., Zeithaml C.P., (1993), Management: Functions& Strategy, Irwin Boston. (2/e)

7-Stoner, Freeman, Gilbert Jr. (6/e), (1996), Management PHI New Delhi

8.वन्दना (शोध प्रबन्ध) (2002), संस्कृत के प्राचीन आचार्यों की आर्थिक दृष्टि एक समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ0 भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

9.रजत अग्रवाल (शोध प्रबन्ध)(2002), Planning and Organizing:A Comparative Study of Indian and westernApproaches, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

10.स्वामी सोमेश्वरानन्द (1996), Indian Wisdom for Management, अहमदाबाद प्रबंधन संघ एवं विवेकानन्द केन्द्र (भारतीय प्रबंधन)

रजत अग्रवाल

प्रवक्ता-अभियांत्रिकी

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में सिक्कों का अमूल्य योगदान

इतिहास की संरचना साक्ष्य सापेक्ष होती है। इतिहासकार अतीत की घटनाओं का स्वयं साक्षी नहीं होता, अतः वह पुरावशेषों से ज्ञात तथ्यों के आधार पर इतिहास का निर्माण करता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में शाब्दी परम्परा तथा पदार्थी परम्परा के अवशेष समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। शाब्दी परम्परा प्राचीन भारतीय साहित्य में सुरिक्षत है। जबकि पदार्थी परम्परा पुरातत्त्व से ज्ञात विविध उपकरणों के रूप में उपलब्ध है। यद्यपि ये दोनों ही इतिहासकार के लिए अत्यन्त उपयोगी है, तथापि पुरातात्विक साक्ष्य अपने अविकल रूप में प्राप्त होने के कारण अधिक विश्वसनीय माने जाते हैं।

पुरातात्विक साक्ष्यों के अन्तर्गत प्राचीन सिक्कों या मुद्राओं का एक विशिष्ट स्थान हैं। यद्यपि सिक्कों का निर्माण अपने समय की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति, क्रय-विक्रय तथा लेन-देन को दृष्टि में रखते हुए हुआ था। लेकिन कालान्तर में ये प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायक सिद्ध हुई थी। सिक्कों के अध्ययन द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक अज्ञात एवं अल्पज्ञात पक्ष उद्घाटित हुए थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास में अनेक काल ऐसे हैं जिनका ज्ञान 'तत्कालीन सिक्कों से ज्ञात होता हैं सिक्कों के अध्ययन से अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य एवं प्रश्न हल हो जाते हैं। भारतीय इतिहास के अनेक राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, कलात्मक, साहित्यिक तथा दूसरे अन्य कई प्रकार के अमूल्य तथ्य सिक्कों से ही ज्ञातव्य हैं।[1]

सिक्कों के गहन अध्ययन द्वारा कतिपय अमूल्य तथ्यों को प्रकाशित कर प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में सिक्कों का महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय योगदान निम्न प्रकार से अग्रलिखित हैं।

1.प्राचीन भारतीय राजनैतिक इतिहास की संरचना में सिक्कों का योगदान:-

सिक्कों के विविध आकार, प्रकार, उन पर अंकित प्रतीक, आकृतियाँ, अभिलेख आदि प्राचीन भारतीय राजनैतिक इतिहास के निर्माण में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक अंधकार युग जिनके संबंध में साहित्य तथा अभिलेख अधिकांशतः मौन है, सिक्कों के माध्यम से ही प्रकाशित हुए हैं। 206 ई0 पू0 से लेकर 300 ई0 तक के भारतीय इतिहास का पूर्णतः ज्ञान हमें मुख्यतः सिक्कों की सहायता से ही होता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम हमारा ध्यान पश्चिमोत्तर भारत में शासन करने वाले बाख्त्री यवनों के इतिहास की ओर आकृष्ट होता है। क्योंकि इस वंश के अधिकाश शासकों का ज्ञान हमें सिक्कों से ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार शक-पह्लव शासकों के राजनैतिक

1 वासुदेव उपाध्याय -''प्राचीन भारतीय मुद्रायें'', पृ0-25

इतिहास की जानकारी के विषय में मुद्रायें ही ज्ञातव्य रही है।

उत्तर भारत में प्राग्-गुप्त युग में शासन करने वाले अनेक स्थानीय एवं जनजातीय राज्यों के इतिहास पर भी मुख्यत: मुद्राओं से ही प्रकाश पड़ता है। यौधेय, शिवि, कौशांबी, मथुरा आदि के स्थानीय राजवंशों का इतिहास भी मुख्यत: मौद्रिक साक्ष्यों के माध्यम से ही उद्घाटित हुआ है। सातवाहन एवं कुषाण राजवंशों के अनेक शासक मुद्राओं द्वारा ही ज्ञातव्य है। इसी प्रकार गुप्तवंशी शासक काच एवं प्रकाशादित्य तथा अनेक अन्य प्राचीन भारतीय शासकों के इतिहास के संदर्भ में ज्ञान एकमात्र साधन इनके तत्कालीन सिक्के ही है।[2]

सिक्कों पर प्राय: राजाओं की उपाधियाँ तथा कभी-कभी तिथियाँ भी अंकित मिलती है। इनसे राजनैतिक इतिहास का अध्ययन ओर अधिक स्पष्ट तथा प्रमाणिक हो जाता है। उदाहरणार्थ:- कुषाणों एवं गुप्त शासकों की मुद्राओं पर अंकित तिथियाँ तिथिक्रम के निर्धारण में सहायक सिद्ध हुई है। मुद्राओं से कतिपय महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का भी ज्ञान होता है।

"डी0 आर0 भण्डारकर"[3] तथा "एस0 के0 मैती"[4] ने मुद्राओं के आधार पर अनेक राजनैतिक महत्त्व की घटनाओं को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है।

परवर्ती गुप्त सम्राटों के उत्तराधिकार क्रम के निर्धारण में उनकी मुद्रायें अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है।[5]

सिक्कों के प्रसार से किसी राज्य के विस्तार का पता आंशिक रूप से लगाया जा सकता है। सिक्कों के अध्ययन से ही शासकों की तत्कालीन पद्धति का पता चलता है। सिक्कों द्वारा ही प्राचीन भारतीय इतिहास के सभी कालों में प्रचलित आर्थिक संस्थाओं "श्रेष्ठी-निगम" के संदर्भ में ज्ञात होता हैं। क्योंकि कतिपय सिक्कों पर "श्रेष्ठी निगमस्य" अंकित है। अतएव उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि सिक्के प्राचीन भारतीय राजनैतिक इतिहास के निर्माण में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए है।

2.प्रशासन एवं राज्यशास्त्र इतिहास के निर्माण की दृष्टि से सिक्कों का योगदान:-

मुद्रायें प्राचीन भारत के संवैधानिक एवं प्राशासनिक इतिहास के निर्माण की दृष्टि से भी उपयोगी सिद्ध हुई है। यौधेयों एवं मालवों की मुद्राओं पर "**यौधेय गणस्य जय:**" तथा "**मालव गणस्य जय:**" अंकित मिला है। जो इन राज्यों में गणतान्त्रिक शासन पद्धति के प्रचलित होने की पुष्टि करता है। कतिपय मुद्रायें नगर शासन द्वारा प्रचलित दिखाई देती है।

2 डॉ0 राजवंत राव, डॉ0 प्रदीप कुमार राव -"प्राचीन भारतीय मुद्रायें", पृ0-5

3 डी0आर0भण्डारकर-"एन्श्येन्ट इण्डियन न्यूमिसमेटिक्स" (कार्माइकेल लेक्चर) 1921, पृ0408-94

4 एस0के0मैती -"अर्ली इण्डियन क्वायन्स एण्ड करेन्सी सिस्टम", अध्याय-1/3

5 श्री राम गोयल -"हिस्ट्री ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज", पृ0-20 और आगे

जिससे यह संकेत मिलता है कि पश्चिमोत्तर भारत में कदाचित नगर राज्य भी अस्तित्त्व में थे। कतिपय शक-पह्लव मुद्राओं पर शासक के नाम के साथ-साथ उसके पुत्र अथवा भतीजे का नाम भी अंकित मिलता है। जिससे उनके सहशासन का संकेत मिलता है। उज्जैन के शक शासकों की मुद्राओं से यह प्रमाणित होता है कि महाक्षत्रप पिता के साथ-साथ उनका पुत्र क्षत्रप के रूप में उसकी सहायता करता था और पिता की मृत्यु के पश्चात् जब वह स्वयं महाक्षत्रप बनता था तब वह अपने पुत्र को क्षत्रप नियुक्त करता था।[6] यत्र-तत्र मुद्राओं से पति-पत्नी के सह शासन का भी संकेत मिलता हैं। "ए0एस0 अल्तेकर" के अनुसार-गुप्त मुद्राओं में "चन्द्रगुप्त प्रथम-कुमार देवी प्रकार की मुद्रा" इस बात का संकेत करती है कि कुमार देवी लिच्छवियों की उत्तराधिकारिणी होने के कारण चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ सहशासिका के रूप में प्रतिष्ठित थी।[7]

अनेक प्राचीन भारतीय मुद्रायें शासकों की महत्त्वकांक्षाओं तथा उनके राजत्व संबंधी आदर्शों को प्रकट करती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की "चन्द्र-विक्रम प्रकार" की मुद्रा पर राजा को विष्णु अथवा चक्रपुरुष से तीन गोलाकार वस्तुएँ ग्रहण करते हुए दिखाया गया है। "वासुदेव शरण अग्रवाल" इन तीन वस्तुओं को प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति का प्रतीक मानते हैं।[8] "ए0के0 नारायण"[9] ने ठीक ही कहा है कि जहाँ विदेशी शासकों ने अपनी मुद्राओं पर अपने भौतिक ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति करने वाली उपाधियाँ अंकित कराई वहीं भारतीय शासकों ने सदाचार और सत्कर्म को सूचित करने वाली उपाधियाँ भी अंकित कराई। भारतीय राज दर्शन में धर्म को शक्ति की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया।[10]

3.प्राचीन भारतीय धार्मिक इतिहास की संरचना में सिक्कों की एक अहम् भूमिका:-

प्राचीन भारत के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के इतिहास पर भी सिक्कों से रोचक प्रकाश पड़ता है। आहत मुद्राओं तथा जनजातीय मुद्राओं पर अंकित प्रतीक धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मुद्राओं पर अंकित धार्मिक महत्त्व के प्रतीकों से इस बात का संकेत मिलता है कि किस भौगोलिक क्षेत्र अथवा जनसमुदाय में कौन सा धार्मिक सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय था।[11] मुद्राओं पर अंकित राजाओं की कतिपय उपाधियाँ उनके धार्मिक विश्वासों की अभिव्यक्ति करती है। सिक्कों पर निर्मित चित्र (चिन्ह) तथा खुदे हुए लेखों से उस काल में प्रचलित धार्मिक मत के विषय में अनेक बातों का पता लगता है।

6 श्री राम गोयल-''हिस्ट्री ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज'', पृ0 -20 और आगे

7 ए0एस0 अल्तेकर -''गुप्तकालीन मुद्रायें'', पृ0-22

8 एस0के0 मैती -''अर्ली इण्डियन क्वायन्स एण्ड करेन्सी सिस्टम'', पृ0-8

9 ए0के0 नारायण का मत-''हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान एण्ड सीलोन'', सम्पादक, ''सी0एच0 फिलिप्स'', पृ0-96

10 जे0एन0एस0आई0 ''(जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक्स सोसाइटी ऑफ इण्डिया)'' 16 पृ0-97 और आगे

11 डॉ0 राजवंत राव, डॉ0 प्रदीप कुमार राव-''प्राचीन भारतीय मुद्रायें'', पृ07-8

"विमकैड़फिसेस" की मुद्राओं पर अंकित "माहेश्वर" उपाधि तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमाद्वितीय की मुद्राओं पर अंकित "परम-भागवत्" उपाधि इन शासकों के धार्मिक विश्वासों को स्पष्ट करती है।

कुषाण शासकों में कनिष्क की मुद्राओं पर बुद्ध का स्पष्ट अंकन तो मिलता ही है साथ ही उनका नाम भी **"बोदो"** उत्कीर्ण है। कनिष्क की मुद्रायें जिन पर यूनानी, पारसीक एवं भारतीय देवी-देवताओं के नाम मिलते हैं, उसकी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता की द्योतक है। परवर्ती काल में भारत पर शासन करने वाले हूणों ने शैव मत को स्वीकार किया था, जिसकी पुष्टि उनकी मुद्राओं से होती है। हूण नरेश मिहिरकुल की मुद्राओं पर शिव के वाहन नंदी का अंकन प्राप्य है।[12]

गुप्त सम्राटों की स्वर्ण मुद्रायें इस काल में भागवत् धर्म की लोकप्रियता का स्पष्ट संकेत करती हैं। उनकी मुद्राओं से यह प्रमाणित होता है कि विष्णु और लक्ष्मी गुप्त सम्राटों के उपास्य देवता थे। मुख्यत: वैष्णव मतावलंबी होते हुए भी गुप्त सम्राट् पौराणिक सम्प्रदायों के प्रति अपनी पूर्ण आस्था रखते थे। जिसका पता उनकी मुद्राओं से लगता हैं। जैसे:- दुर्गा तथा अम्बिका का अंकन चन्द्रगुप्त प्रथम-कुमार देवी प्रकार की मुद्रा के पृष्ठ भाग पर हुआ है। जिसमें उसे सिहंवाहिनी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार समुद्रगुप्त के व्याघ्रनिहन्ता प्रकार की मुद्रा पर मकरवाहिनी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय धार्मिक इतिहास अपनी विविधता के साथ प्राचीन भारतीय मुद्राओं में प्रतिबिम्बित दृष्टिगत होता है।

4.आर्थिक इतिहास के निर्माण की दृष्टि से सिक्कों का महत्त्व:-

यदि वास्तव में देखा जाये तो सिक्कों की उत्पत्ति मूलत: आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु हुई। अत: मुद्राओं से आर्थिक इतिहास पर प्रकाश पड़ना सर्वथा स्वाभाविक है।

"लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी" ने इस तथ्य का विस्तृत विवेचन किया है कि मुद्राओं की धातु, उनका आकार, उनकी तौल तथा उन पर अंकित प्रतीक, उनके प्राप्ति स्थल आदि किस तरह न्यूनाधिक रूप से आर्थिक इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।[13] मुद्रा के लिए आवश्यक धातु कहाँ से प्राप्त होती थी, इस तथ्य का विवेचन भी आर्थिक इतिहास के अध्ययन में सहायक सिद्ध हुआ है।[14] भारतीय इतिहास के किसी भी काल में सिक्कों का अधिकाधिक प्रचुर मात्रा में मिलना यह सिद्ध करता है कि वह काल अर्थिक समृद्धि का काल था। जैसे:- गुप्त वंशी सम्राटों में समुद्रगुप्त द्वितीय की शुद्ध स्वर्ण से निर्मित विविध प्रकार की मुद्रायें गुप्त शासनान्तर्गत व्याप्त आर्थिक समृद्धि को प्रकट करती है। भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्र तटों पर समृद्ध बन्दरगाह थे, जिन पर विजय के उपरान्त समुद्रगुप्त

12 एस0के0 मैती-पूर्व उद्धृत ग्रंथ-

13 एल0के0 त्रिपाठी-''क्वायन्स ऐज सोर्स ऑफ इंकानोमिक हिस्ट्री'' (जे0एन0एस0आई0) 33, पृ0-1-14

14 आर0एस0शर्मा -''क्वायन्स एण्ड प्राबलम्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री'' (जे0एन0एस0आई0) 31, खण्ड, 1 पृ0-1-8

और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने प्रभूत स्वर्णराशि प्राप्त किया होगी। यह वैभव कुमार गुप्त के शासनकाल तक दिखाई देता है। किन्तु स्कन्दगुप्त के काल से गुप्त स्वर्ण मुद्राओं में मिलावट दिखाई देती है। जो प्रकट करती है कि स्कन्दगुप्त के शासन काल से ही अर्थिक ह्रास की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। इस ह्रास की प्रक्रिया के कारण ही गुप्तोत्तर काल में मुद्राओं के अभाव का एक प्रमुख कारण सामन्तवाद के बढ़ते प्रभाव एवं व्यापार-वाणिज्य तथा नगर जीवनके ह्रास को भी माना गया है।[15] इस प्रकार मुद्राओं की प्रचुरता या अधिकता किसी भी काल की आर्थिक समृद्धता को स्पष्ट करती है। जिससे उस समय की आर्थिक दशा एवं स्थिति का सही पता चलता है।

५.सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की संरचना की दृष्टि से सिक्कों की महत्ता

प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण की दृष्टि से भी सिक्कों का बहुमूल्य योगदान रहा है। मुद्राओं पर अंकित माठरीपुत्र, भारद्वाजी पुत्र आदि उपाधियाँ इस बात का संकेत करती हैं। कि कुछ क्षेत्रों में विवाह के उपरान्त भी वधू का गौत्र परिवर्तित नहीं होता था। मुद्राओं से समकालीन समाज में प्रचलित वस्त्र, आभूषण, मनांरजन के साधानों आदि के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। "विद्या-प्रकाश" ने गुप्त मुद्राओं के अध्ययन के आधार पर तत्कालीन भौतिक जीवन के विविध पक्षों का विवेचन किया है।[16] इसी प्रकार "एम0के0 धवलिकर" ने बाख्त्री यवन, कुषाण एवं गुप्त मुद्राओं के आधार पर प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया है तथा समकालीन समाज में प्रचलित वस्त्र, आभूषण केश-सज्जा के उपकरण, आयुध, कवच, रथ आदि के प्रकारों का विस्तृत विवेचन किया है।[17] गुप्त शासकों की मुद्राओं से उनके सांस्कृतिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जैसे :- समुद्रगुपत को अपनी एक स्वर्ण मुद्रा पर वीणा बजाते हुए प्रदर्शित किया गया है। जिससे उसके महान् संगीतज्ञ होने तथा संगीत प्रेम का पता चलता है। इसी प्रकार अन्य शासकों की मुद्राओं से उनके सांस्कृतिक जीवन की अन्यतम विशेषतायें परिलक्षित होती है।

६.कलात्मक एवं साहित्यिक इतिहास के निर्माण में सिक्कों का योगदान

प्राचीन भारतीय मुद्रायें कलात्मक एवं साहित्यिक इतिहास की संरचना में भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। इस दृष्टि से मुख्यत: जे0एन0 बैनर्जी[18] एवं भाष्कर चट्टोपाध्याय[19] ने मुद्राओं का गहन अध्ययन किया है कि नंदी के साथ शिव का स्पष्ट अंकन पहली बार विमकैड़फिसेस की मुद्राओं पर ही मिलता है। इस मुद्रा पर अंकित शिव प्रतिमा लक्षण प्रतिमा विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी है। इसी प्रकार कनिष्क की

15 आर0एस0शर्मा-''इण्डियन फ्यूडलिज्य'', पृ-63-65

16 सम आस्पेक्टस ऑफ मेटीरियल लाइफ ऑन गुप्ता क्वायन्स (जे0एन0एस0आई0), खण्ड-23 पृ0-267-296

17 एम0के0 धवलिकर-क्वायनेज एण्ड कल्चरल लाइफ, (जे0एन0एस0आई0), 35, पृ0-194-95

18 जे0एन0 बैनर्जी -''दि डेवलेपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्रैफी'', पृ0-108-117

19 भास्कर चट्टोपाध्याय-''क्वायन्स एण्ड आइकन्स, ए स्टडी ऑफ मिथ्स एण्ड सिम्बल इन इण्डियन न्यूमिसमेटिक्स'' आर्ट्स'', पृ0-110-15

मुद्राओं पर बुद्ध का अंकन बुद्ध प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कुषाण शासक कनिष्क और हुविष्क की मुद्राओं पर विविध देवी-देवताओं के अंकन मिलते हैं। जिनका अध्ययन प्राचीन भारतीय कला एवं प्रतिमा शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। गुप्त शासकों की मुद्रायें भी कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। गुप्त सम्राटों की स्वर्ण-मुद्रायें मुद्राशास्त्रीय कला का एक अभूतपूर्व एवं सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है।

भारतीय सिक्कों ने कलात्मकता के अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास के निर्माण में भी अपनी एक अहम् भूमिका निभाई है।

मुद्राओं से समकालीन भाषा, लिपि और साहित्य पर भी पूर्णतः प्रकाश पड़ता है तथा साथ ही यदा-कदा शासकों की साहित्यिक अभिरुचि का भी ज्ञान प्राप्त होता है। सातवाहन मुद्राओं पर प्रायः प्राकृत भाषा का प्रयोग मिलता है। जो तत्कालीन समाज में प्रचलित प्राकृत भाषा की लोकप्रियता को प्रकट करता है। गुप्त मुद्राओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में संस्कृत भाषा मुख्यतः प्रचलित रही थी। गुप्त मुद्राओं पर अंकित काव्यमय विरूद् (उपाधि) तत्कालीन शासकों की काव्यप्रियता को दर्शाती है।[20] इस प्रकार सिक्कों ने साहित्यिक इतिहास की संरचना में भी अपनी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय इतिहास की संरचना या निर्माण में सिक्कों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

प्राचीन भारतीय मुद्राओं का यह योगदान सर्वथा एक अमूल्य एवं अविस्मरणीय ही रहा है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक अंधकार युगों के प्रकाशन में तथा अनेक ऐतिहासक गुत्थियों को सुलझाने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई है। अपने मौलिक रूप में प्राप्त होने के कारण ये मुद्रायें सभी पुरातात्विक साक्ष्यों में अधिक उल्लेखनीय एवं विश्वसनीय रही है। प्रायः प्रतिवर्ष कुछ न कुछ नई मुद्रायें मिल रही है जिनके माध्यम से इतिहास के अनेक महत्त्वूपर्ण पक्षों के साथ-साथ स्थानीय राजवंशों का इतिहास भी क्रमशः उजागर होता जा रहा है।

डॉ0दीपा गुप्ता
प्रवक्ता- प्राचीन भारतीय इतिहास
संस्कृति, एवं पुरातत्त्व विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

20 डॉ0 राव, पूर्वोद्धत-पृ0-11-12

Moulsri (*Mimusops elengi*): A Valuable medicinal plant

Mimusops elengi is a large ornamental tree found in south India. It is cultivated in gardens for its fragrant flowers. It is commonly known in Hindi as Moulsari, in Sanskrit as Bakula and in English as Bulletwood.

बकुलो मधुगन्धश्च सिंहकेसरकस्था (Bhavprakash)1

In this shloka, this is synonymous to mathugandha, simkakeshara sthirapushpa and madhugandha. It belongs to family Sapotaceae.

Description of Plant:

It is a large glabrous ever green tree, 10-15m high with a compact leafy head and short erect trunk, bark smooth, scaly. Leaves 6.3-10 by 3.2-5cm elliptic shortly acuminate, glabrous, base accute, or rounded petioles 1.3-2-5cm long. Flowers white, fragrent, nearly 2.5cm, across, solitary or in fascicles of 2.6, buds ovoid acute pedicels 6.2mm long, appressedly, pubescent often deflexed2. The calyx-lobes are 8 and ovate-lanceolate. The corolla lobes are in 2 circles in 2 series the inner one is consisting of 8-10 lobes. The stamens are 8. The ovary is hairy and 6-8 celled. The fruits are ovoid 1.7-2.0cm long and 1 seeded berries and reddish yellow when ripe. Flowering is in March-April and fruiting during April-June 3.

Phytochemistry:

Bark contains tannin, some eaoutchouc, wax, colouring matter starch and ash, flowers contain a volatile oil. Seeds contain a fixed fatty oil, pulp of the fruit contains a large proportion of sugar and saponin4. The seeds contains arachidic, behenic, capric, lauric, linoleic, oleic, myristic, palmitic and stearic acids, polysaccharide composed of L-arabinase, D-glucuronic acid, L-rhamnose and D-xylose, dihydroquercetin, quercitol and a spinasterol. 3 Two new pentacyclic triterpenes, mimusopgenone and mimugenone were isolated from the seeds of plant and characterized as 2-beta, 23-trihydroxy-28 oleana-5 12dien-16-one and 3-β, 23-dihydroxyoleana-5, 12dien-16-one, respectively based on their spectroscopic properties. 5 Two new steroidal glycosides (1&2) have been isolated from plant and characterized as the 3-0-b -D-galacto pyranoside of (24 R) stigmast-7,22 (E)-dien 3-alpha-01, respectively. 6A new triterpense, 3 beta hydroxy-1 lup-20(29)-ene-23, 28-dioic acid has been

isolated from plant. Its structure was established through chemical and spectroscopic studies. The known triterpenes, b amyrinlupeol, a taraxerol were also isolated. 7 The triterpene mimusopic acid possessing the novel migrated cleance skeleton, mimusopene, exhibits anti H.I.V. reverse transcriptase activity and modification of this novel compound may lead to more potent bioactive substance the saponins presents also demonstrated to be isolated, characterized and bio activity evaluated are persented. 8 The roots on extraction with ethanol gave lupeol, acetate, taraxerol, a spinoasterol and b -D glucoside of b sitosterol. The plant has been reported to contain calcium (21. 2mg) and phosphorus (30mg) per 100gm.

Pharmacology:

The leaf extract of plant showed antibacterial activity against *Bacillus, anthrasis, B. mycoides, B. subtilis, Salmonella typhi and Staphylococcus aures*. The inhibition being significant against *Xanthomonas comperstris* and *B. anthracis*.

The aqueaus extract of the plant was mildly active against second stage juveniles of *Meloidogyne incognita*. 9 The saponin had spasmolytic action on isolated guinea pig ileum prepration against acetycholine histamine and barium chloride. It was most active against histamine. 10 Fruit and flowers together with other astringents are used to prepare a lotion for wounds and ulcers. Powder of dried flowers produces copious.

Discharge from the nose, it is sniffed to relieve headache. Seeds bruished into a paste and mixed with oil or ghee are made to from suppositories in cases of obstinate constipation, especially in children. Unripe fruit is a useful masticatory and therfore, recommended to be chewed for fixing loose teeth. Bark infusion or decoction is similarly useful as gargle in salivation in diseases of the gums and teeth and to strength them. It is useful in fevers as a general tonic, pulp of the ripe fruit is eaten as diet in convalescence after diarrhoea, and is used in snake bite, it is also applied to relieve headache. The ripe fruit promotes delivery, flowers yield an oil which is used in perfumery. The root is sweet aphrodisiac, diuretic, astringent to the bowels, good for gonorrhoea, as a gargle cures relexation of the gums.A snuff made from the dried and powderded flowers is given in a disease called "Ahwah" common in Bengal. 7The pulp of the ripe fruit is sweetish and astringent and

has been sucessfully used in curing chronic dysentery.4

Reference:

1.Chuneker, K.C. Bhav Praksah Nighantu, 1969, Chaukhambha Sanskrit Sansthan Varanshi.

2.Kaushik, P., Dhiman, A.K., 2000, Medicinal Plants and Raw Drugs of India

3.Kirtikar, K.R. Basu B.D., 1965. Indian Medicinal Plants.

4.Nadakarni,A.K. 1976 Indian materia Medica, Bombay Popular Prakashan.

5.Sen, S Sahu, N.P. Mahato, S.B.C. 1995, Pentachclic triteerpenoides frm M. elengi, v [38] ;205-207

6.Johan, N.Ahmed, W, Malik,A. 1995 New Steroidal glycosides from. *M. elengi*. Journal of Natural Products 58 (8) ; 1244-1247

7.Johan, N.Ahmed, W, Malik,A 1995.A lupene type triterpene from *M. elengi* Phytochemistry V 39 (1) ; 255-257

8.Sahu N.P., Mandal N.B. Banerjee, S, Siddique K.A.I. 2001, Chemistry and Biology of triterpenes and saponins from seeds of *M. elengi*. Journal of herbs, spices& medicinal plants v.8 (4); 29-33

9.Satyanarayana, T. Rao., D.P.C. and Singh, B.S. 1977,Antibacterial activity of six medicinal plants extracts. Indian drugs 14, 209.

10.Banerji, R. Prakash D. Patnaik, G.K., and Nigam, S.K. 1982. Spasmolytic activity of saponins. Indian Drugs 20, 51.

Navneet, Prabhat and Shri Krishna*

Department of Botany& Microbiology

*Department of Chemistry

Gurukul Kangri University, Haridwar (U.A.)

चक्रेश्वरी

(भारत कला भवन की अद्भुत मध्यकालीन मूर्ति)

भारत कला भवन, वाराणसी में हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्म से सम्बन्धित विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियां संगृहित हैं। जैन धर्म से सम्बन्धित प्रस्तर मूर्तियों का विशिष्ट संग्रह यहाँ विद्यमान है। तीर्थकर ऋषभनाथ,पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी की प्रस्तर मूर्तियों के साथ ही साथ यक्ष-यक्षी मूर्तिया भी यहाँ संगृहित हैं। इन्हीं जैन मूर्तियों में से एक स्वतन्त्र अष्टभुजी चक्रेश्वरी की है, जो मध्य काल की है। इस मूर्ति की पंजीयन संख्या 364.81 है तथा इसकी माप 72×39½ सेमी. है। भारत कला भवन की संचय पंजिका में इस मूर्ति से सम्बन्धित कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। अत: प्रतिमा शास्त्र के आधार पर तथा अन्य स्थानों से प्राप्त चक्रेश्वरी की मूर्तियों के साथ तुलनात्मक विवेचन करके इस मूर्ति का वर्णन करना आवश्यक है।

जैन देव समुदाय में देवता के समान माने जाने वाले यक्ष-यक्षियों को शासन देवताओं एवं रक्षक देवताओं के रूप में स्वीकार किया गया है। शासन देवताओं के रूप में हमेशा 'जिनों' के समीप रहने के कारण ही जैन देव कुल में यक्ष-यक्षियों को 'जिनों' के बाद सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली।[1] सहायक देवताओं के रूप में पूजित यक्ष-यक्षियों का उल्लेख आचारदिनकर में 'जिन शासन रक्षाकारकाय' अर्थात् जैन धर्म के रक्षक के रूप में किया गया है। जैन परम्परा के अनुसार 'जिन' मूर्तियों के सिहांसन या सामान्य पीठिका के दाहिनी तरफ यक्ष तथा बाँयी तरफ यक्षी अंकित होनी चाहिए।[2]

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का यक्ष गोमुख तथा यक्षी चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा हैं। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों परम्परा के ग्रन्थों में चक्रेश्वरी का वाहन गरुड़ है और उनकी भुजाओं में चक्र के प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में चक्रेश्वरी को अष्टभुजी एवं द्वादशभुजी उल्लिखित किया गया है। निर्वाणकलिका के अनुसार अष्टभुजी अप्रतिचक्रा का वाहन गरुड़ है। उनके दाहिने हाथों में वरदमुद्रा,बाण,पाश एवं चक्र तथा बाँयें हाथों में धनुष, वज्र, चक्र एवं अंकुश होना चाहिए।[3] त्रिशष्टिशलाकापुरुष चरित,पद्मानन्दमहाकाव्य तथा मन्त्राधिजराकल्प में भी अप्रतिचक्रा से सम्बन्धित इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।[4] रूपमण्डन तथा देवतामूर्तिप्रकरण में द्वादशभुजी चक्रेश्वरी का वर्णन है, जिनकी आठ भुजाओं में चक्र,दो में वज्र तथा दो में मातुलिंग एवं अभयमुद्रा का उल्लेख

1 हरिवंश पुराण, 66.43-44; तिलोयपण्णति, 4.934-39

2 प्रतिष्ठासारसंग्रह, 5.12

3 अप्रतिचक्राभिधानां यक्षिणी हेमवर्णा गरुडवाहनामष्टभुजां। वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणकरां धनुर्वज्र-चक्रांकुशवामहस्तां चेति।। (निर्वाणकलिका, 18.1)

4 त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.3, 682-683; पद्मानन्दमहाकाव्य, 14.282-283; मन्त्राधिराजकल्प, 3.51

हैं।[5] आचारदिनकर में अष्टभुजी चक्रेश्वरी की दो भुजाओं में धनुष के प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है।[6] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में चक्रेश्वरी को चतुर्भुजी तथा द्वादशभुजी उल्लिखित किया गया है।[7] श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों परम्पराओं में द्वादशभुजी चक्रेश्वरी के हाथों में समान आयुधों के प्रदर्शन का निर्देश है।

चक्रेश्वरी-अष्टकम् नामक तान्त्रिक ग्रन्थ में चक्रेश्वरी के भयानक रूप का ध्यान है। इस ग्रन्थ में देवी के हाथों की संख्या का उल्लेख है। तीन नेत्रों वाली भयंकर दिखने वाली देवी की पूजा गुह्यकों तथा डाकिनियों से रक्षा एवं अन्य बाधाओं को दूर करने तथा समृद्धि के लिए की गयी है।[8] दक्षिण भारत में गरुड़वाहना चक्रेश्वरी का उल्लेख द्वादशभुजी तथा षोडशभुजी के रूप में किया गया है। दिगम्बर परम्पराओं में षोडशभुजी चक्रेश्वरी के बारह हाथों में युद्ध के आयुध, दो गोद में, एक वरमुद्रा तथा एक अभयमुद्रा में होने का उल्लेख है। दक्षिण भारत के श्वेताम्बर परम्पराओं (अज्ञातनाम) में द्वादशभुजी यक्षी की तीन आँखें बतायी गयी है। इनके आठ हाथों में चक्र, एक में शक्ति, एक में वज्र, एक में पद्म तथा एक वरदमुद्रा में प्रदर्शित होने का उल्लेख है।[9]

प्रारम्भ में जैन शिल्प में तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों में उनके यक्ष-यक्षियों की छोटी आकृतियां उत्कीर्ण की जाती थी, जिनका आकार समय के साथ-साथ बढ़ता गया। 9वीं-10वीं सदी ई0 तक यक्ष-यक्षियों की स्वन्तत्र मूर्तियाँ निर्मित होने लगी, जिनमें उनके तीर्थंकरों की संक्षिप्त आकृति शीर्षभाग में चित्रित होने लगी।[10] चक्रेश्वरी की मूर्ति ऋषभनाथ के साथ तथा सर्वाधिक मूर्तियाँ देवगढ़ में उत्कीर्ण हुई। चक्रेश्वरी की प्राचीनतम स्वतन्त्र मूर्ति देवगढ़ के मन्दिर 12 (862 ई.) की भित्ति पर है। चतुर्भुज मूर्ति त्रिभंग में खडी है। देवी का वाहन गरुड़ दाहिने पार्श्व में नमस्कार मुद्रा में खड़ा है। लेख में देवी को 'चक्रेश्वरी' कहा गया है।[11] दसवीं सदी ई. में चक्रेश्वरी की चार से अधिक भुजाओं वाली मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुई। दो अष्टभुजी मूर्तियां (10वीं सदी ई.) ग्यारसपुर के मालादेवी मन्दिर के शिखर पर उत्कीर्ण हैं। दोनों उदाहरणों में गरुड़वाहना यक्षी ललितासन मुद्रा में विराजमान है। दक्षिण

5 रूपमण्डन 6.24; देवतामूर्तिप्रकरण, 7.66

6 'स्वर्णाभा गरुडासनाष्टभुजयुग्वामे च हस्तोच्चये वज्रं चापमथांकुशं गुरुधनुः सौम्याशया बिभ्रती' (आचारदिनकर, 34.1)

7 प्रतिष्ठासारसंग्रह, 5.15.-16; प्रतिष्ठातिलकम्, 7.1; प्रतिष्ठासारोद्धार 3.156; अपराजितपृच्छा, 211.15-16

8 शाह, यू.पी. आइकोनोग्राफी ऑफ चक्रेश्वरी, जर्नल ऑफ दि ओरियन्टल इन्स्टीट्यट, बड़ौदा, खण्ड-20 अंक-3, पृ0-279, 306

9 रामचन्द्रन, टी. एन. तिरूपरूत्तिकुणरम ऐण्ड इट्स टेम्पल्स, बुलेटिन ऑफ मद्रास गर्वनमेण्ट म्यूजियम, नंबर-1, भाग-3, मद्रास, 1934, पृ.-197-198

10 तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, उत्तर भारत में जैन यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तिगत अवतारणा, अनेकान्त, वर्ष-25 अंक-1, 1972, पृ0-35

11 तिवारी मारूतिनन्दन प्रसाद जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981, पृ0 168

शिखर की मूर्ति में यक्षी के सुरक्षित हाथों में छल्ला, वज्र, शंख और तीन हाथों में चक्र प्रदर्शित है। उत्तरी शिखर की दूसरी मूर्ति यक्षी के अवशिष्ट हाथों, में खड्ग, आम्रलुम्बि, चक्र, खेटक, शंख और गदा प्रदर्शित है।[12] राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में एक अष्टभुजी चक्रेश्वरी (संख्या 67.152) की कास्य प्रतिमा सुरक्षित है। इसमें चक्रेश्वरी एक पूर्ण विकसित कमल पर ललितासन मुद्रा में विराजमान हैं। इनके आठ हाथों में से छः हाथों में चक्र है, निचला दाहिना हाथ वरदमुद्रा में व बाँयें हाथ में फल प्रदर्शित है। शीश के पीछे बनी प्रभा में ध्यानी आदिनाथ की मूर्ति है। इनका वाहन गरुड़ आलीढ़मुद्रा में पीठिका पर अंकित है। यह मूर्ति प्रतिहार कला, 10 वीं सदी ई. की बनी प्रतीत होती है।[13] चक्रेश्वरी की एक अष्टभुजी मूर्ति चित्तौड़गढ़ में पद्मिनी महल के निकट बने जलाशय की दीवार पर उत्कीर्ण है। 'चक्रेश्वरी' अभिलेखयुक्त इस मूर्ति में अष्टभुजी देवी मानवकृति गरुड़ पर ललितासन मुद्रा में विराजमान है। उनके सबसे नीचे तथा सबसे ऊपर के दो-दो हाथों में कोई अस्पष्ट आयुध हैं मूर्ति जटामुकुट, कुण्डल, हार केयूर, कटक आदि आभूषणों से विभूषित है। वाहन गरुड़ की ग्रीवा में भी सर्पहार का प्रदर्शन है। यहाँ गरुड़ का दायाँ जानु ऊपर उठा हुआ और बायाँ मुड़कर धरा पर रखा हुआ है। वह अपने हाथ से देवी के दायें पैर को और बायें हाथ से देवी के मुड़े हुए बायें पैर के नीचे बने पद्मपीठ को आश्रय दिये हैं।[14]

खुजराहो के घण्टई मन्दिर में 10 वीं सदी ई. की एक अष्टभुजी चक्रेश्वरी की प्रतिमा विद्यमान है, इसकी भुजाओं में फल, घण्टा, चार हाथों में चक्र, धनुष तथा कलश प्रदर्शित है।[15] करीमनगर जिले (आन्ध्र प्रदेश) के कुरिक्याल नामक स्थान से 10वीं सदी ई. के लगभग मध्य की कुछ जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई। उनमें से एक मूर्ति आदिनाथ की शासनदेवी यक्षी चक्रेश्वरी की है। इस मूर्ति के नीचे कन्नड़ कवि पम्प (लगभग 950 ई.) के भ्राता जिनवल्लभ का अभिलेख है, जिसमें लिखा है कि इस मूर्ति का निर्माण जिनवल्लभ ने कराया।[16] चक्रेश्वरी अर्धपर्यकासन मुद्रा में मानवाकृति गरुड़ पर आसीन हैं। गरुड़ की आकृति नमस्कार मुद्रा में दिखायी गयी है। अष्टभुजी चक्रेश्वरी के बायीं तरफ के दो हाथ में चक्र, एक में वज्र पद्मकलिका (?) एक में कलश तथा दाहिनी तरफ के दो हाथ में चक्र, एक में वज्र तथा एक में शंख प्रदर्शित है। देवी सिर पर किरीटमुकुट धारण किए हैं, जिसमें 'जिन' की आकृति उत्कीर्ण है। यह आकृति अस्पष्ट है। सिर के पीछे प्रभामण्डल का भी अंकन है। इनके गले में हार तथा कानों में कुण्डल प्रदर्शित है।

भारत कला भवन की चक्रेश्वरी यक्षी मानवकृति गरुड़ पर अर्धपर्यंकासन मुद्रा में

12 नागर, शान्तिलाल, आइकोनोग्राफी ऑफ जैन डेइटीज, दिल्ली, 1999, वालयूमन-1, पृ0 257
13 शर्मा, ब्रजेन्द्र नाथ, जैन प्रतिमायें, दिल्ली, 1979, पृ.-52
14 श्रीवास्तव, पंकजलता, हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, लखनऊ, 1990, पृ.-378-379
15 नागर, शान्तिलाल, आइकोनोग्रफी ऑफ जैन डेइटीज, दिल्ली-1999 वाल्यूम-1, पृ. 257
16 घोष, अमलानन्द, जैन कला एवं स्थापत्य, नई दिल्ली, 1975, खण्ड-3, पृ0-463, चित्र-302

आरूढ़ है। अष्टभुजी देवी के ऊपरि चार हाथों (दो बाँये तथा दो दाँये हाथ) में चक्र प्रदर्शित है। दाहिना एक हाथ व्याख्यान मुद्रा में तथा एक हाथ वरदमुद्रा में हैं। बाँयें एक हाथ की हथेली का कुछ भाग खण्डित है। ऐसा प्रतीत होता है कि देवी इस हाथ में कुछ धारण किए रही होंगी, जो स्पष्ट है। इनका बायाँ एक हाथ खण्डित है। इस प्रकार देवी के छ: हाथों के आयुध ही स्पष्ट हैं(चित्र संख्या-1)। चक्रेश्वरी के सिर पर किरीटमुकुट है, जिन पर 'जिन' की आकृति निर्मित है। यद्यपि आकृति स्पष्ट नहीं है। किन्तु ऐसी सम्भावना है कि यह आकृति ऋषभनाथ की होगी। यक्षी के सिर के पीछे प्रभामण्डल है, जिसमें कमल पंखुड़ियाँ अंकित की गयी हैं (चित्र संख्या-2। इनके कान में कुण्डल बाजुओं में केयूर, हाथों में कंगन का अंकन स्पष्ट दिखायी पड़ता है। गले में उपग्रीवा तथा हारसूत्र प्रदर्शित है जब कि कमर में कटिसूत्र तथा उरुद्याम प्रदर्शित किया गया है। चक्रेश्वरी का स्तन गोल तथा पुष्ट है। ये शरीर के ऊर्ध्वभाग में उत्तरीय तथा अधोभाग में धोती धारण किए हैं (चित्र संख्या-1)।

मानवाकृति गरुड़ ने चक्रेश्वरी को अपने ऊपर धारण किया है। गरुड़ अपने सिर पर देवी का मुड़ा हुआ बायां पैर धारण किए है, जब कि बाँयें हाथ से उनका बाँयां घुटना उठाया हुआ है। यक्षी का दाहिना पैर गरुड़ के वक्षस्थल पर विराजमान है। गरूड़ के कान में कुण्डल, गले में हार, दिखायी पड़ता है। गरुड़ के दाहिनी तरफ बैठी हुई एक नारी आकृति का अंकन है, जिसका मुखाकृति भाग पूर्णत: खण्डित है। सम्भवत: यह चक्रेश्वरी की पार्श्वचर होगी (चित्र संख्या-3)।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में ही अष्टभुजी चक्रेश्वरी का उल्लेख मिलता है। इनकी अष्टभुजी मूतियाँ उत्तर भारत से प्राप्त हुई हैं। करीमनगर नामक स्थान के अतिरिक्त दक्षिण भारत में इनकी अष्टभुजी मूर्तियाँ सम्भवत: नहीं प्राप्त हुई हैं। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्परा की निर्मित की गयी चक्रेश्वरी मूर्तियां का तुलानात्मक अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर तथा मध्य भारत के क्षेत्रों में इनकी दो से बीस भुजाओं वाली मूर्तियाँ 9वीं-12वीं सदी ई. के मध्य निर्मित की गयीं। इनकी सर्वाधिक मूर्तियाँ चार भुजाओं वाली प्राप्त हुई हैं। इनकी दो, चार, आठ, दस तथा बीस भुजाओं वाली मूर्तियाँ ही पर्याप्त मात्रा में मिली हैं।[17] इसके अतिरिक्त बारह तथा सोलह भुजाओं वाली मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। चार से अधिक भुजाओं वाली चक्रेश्वरी की मूर्तियाँ 10 वीं सदी ई. में उत्कीर्ण हुई। चक्रेश्वरी की अष्टभुजी आरम्भिक स्वतंत्र मूर्ति 10 वीं सदी ई. की प्राप्त हुई है। अत: 10वीं सदी ई. के पूर्व अष्टभुजी चक्रेश्वरी की मूर्ति निर्मित नहीं की गयी है। अत: 10 वीं सदी ई. के पूर्व अष्टभुजी चक्रेश्वरी की मूर्ति निर्मित नहीं की गयी थी। इनकी सर्वाधिक मूतियाँ 10वीं-11 वीं सदी ई. में बनीं। इस विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत कला भवन की चक्रेश्वरी यक्षी की प्रतिमा श्वेताम्बर परम्परा की है। यह उत्तर भारत में निर्मित की गयी होगी और इसका समय 10वीं-11 वीं सदी ई. रहा होगा।

चक्रेश्वरी के नाम, उनके आयुध चक्र और वाहन गरुड़ के आधार पर इनका सम्बन्ध वैष्णवी से स्थापित किया जाता है। जैन देवकुल में अप्रतिचक्रा नाम वाली देवी का उल्लेख जैन महाविद्या के रूप में हुआ है। जैन ग्रन्थों में चतुर्भुजी अप्रतिचक्रा के चार हाथों

17 नागर, शान्तिलाल, आइकोनोग्राफी ऑफ जैन डेइटीज, दिल्ली, 1999, वाल्यूम-1, पृ.-257

में चक्र के प्रदर्शन का निर्देश है किन्तु शिल्पकला में इसका पालन नहीं किया गया है। इसी कारण से गुजरात और राजस्थान क्षेत्र में चक्रेश्वरी यक्षी एवं अप्रतिचक्रा महाविद्या के मध्य स्वरूप से सम्बन्धित अन्तर स्पष्ट कर पाना अत्यन्त कठिन है। इन स्थानों पर महाविद्याओं की विशेष लोकप्रियता देवी के चक्र, गदा तथा शंख आयुधों तथा उसके साथ रोहिणी, वैरौट्या, महामानसी एवं अच्छुप्ता महाविद्याओं की विद्यमानता के आधार पर उसकी पहचान महाविद्या से ही की गयी है। कुम्भारिया के शान्तिनाथ मन्दिर के वितान के सोलह महाविद्याओं के सामूहिक चित्रण में चतुर्भुजी अप्रतिचक्रा भी अंकित है। अप्रतिचक्रा के दो हाथ में चक्र, एक में शंख तथा एक वरदमुद्रा में है। विमलवसही की देव कुलिका, संख्या 10 पर अष्टभुजी चक्रेश्वरी की मूर्ति निर्मित है। इसकी तिथि 1230 ई. निर्धारित की गयी है। यक्षी की पीठिका के समीप पक्षी रूप में गरुड़ की आकृति बनी है। चक्रेश्वरी के दो हाथों में चक्र, दो में छल्ला, एक में पद्मकलिका, एक में फल, एक वरद मुद्रा तथा एक व्याख्यान मुद्रा में प्रदर्शित है।"[18]

उपर्युक्त विवरण से यह प्रमाणित होता है कि चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा यक्षी की पूजा ऋषभनाथ के साथ संयुक्त रूप से अथवा स्वतन्त्र रूप से की जाती थी। उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक इनकी दो, चार, छः आठ, दस, बारह, सोलह तथा बीस भुजाओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। देवशक्तियाँ जितने रूपों में कार्य करती हैं, अस्त्र उन्हीं के काल्पनिक संकेत हैं। चक्रेश्वरी की भुजाओं में प्रदर्शित लांक्षन या आयुध उनकी बहुमुखी शक्तियों की परिचायक हैं।

इनकी भुजाओं में विभिन्न प्रकार के आयुध मिलते हैं, जिससे शक्ति का आभास होता है। हिन्दू मातृका वैष्णवी की मूर्तियाँ इतनी अधिक मात्रा में नहीं प्राप्त होती। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि चक्रेश्वरी यक्षी वैष्णवी की अपेक्षा अधिक मान्य थीं और उनकी पूजा वैष्णवी की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्रों तक होती थी। चक्रेश्वरी केवल शक्ति की ही प्रतीक नहीं थीं बल्कि महाविद्याओं में भी इनकी गणना अप्रतिचक्रा के रूप में हुई हैं। वैष्णवी, लक्ष्मी तथा दुर्गा नामक हिन्दू देवियों के आयुध चक्रेश्वरी की भुजाओं में धारण करने का उल्लेख है तथा मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा में इन देवियों के गुण विद्यमान थे। अतः जैन देव समुदाय में चक्रेश्वरी काफी महत्त्वपूर्ण देवी के रूप में मान्य रही हैं।

डॉ. अनिल कुमार सिंह

सहायक संग्रहाध्यक्ष

भारत कला भवन

काशी हिन्दू विशविद्यालय, वाराणसी

18 वही, पृ0-255-256

पुस्तक-समीक्षा

वैदिक साहित्य एवं संस्कृति

प्रसिद्ध भाषाविद् एवं पद्मश्री डॉ. कपिल देव द्विवेदी का नाम विद्वज्जगत् में अपरिचित नहीं है। इनकी जगच्छ्रेयोविधायिनी लेखनी से विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थप्रसून नि:सृत हुए है। आप जहाँ व्याकरण और भाषाविज्ञान के मर्मज्ञ हैं वहीं वैदिक साहित्य के भी अद्भुत पंडित हैं। आपने दो वेद संहिताओं को कण्ठाग्र कर द्विवेदी नाम को सार्थक किया है।

यों तो वैदिक वाङ्मय के इतिहास और संस्कृति पर अनेकों ग्रन्थ लिखे गये हैं। जिनमें मैक्समूलर, वेबर, मैक्डॉनल, विक्टरनित्स, कीथ, रूडोल्फ रोठ, पं. भगवद्दत्त, पं. बलदेव उपाध्यायय, पं. कुन्दनलाल शर्मा, राम गोविन्द त्रिवेदी, डॉ. मुन्शीलाल शर्मा, डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय, प्रो. बी.बी. चौबे, डॉ. राममूर्ति शर्मा, डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर आदि के द्वारा समय-समय पर प्रणीत ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। परन्तु, डॉ. द्विवेदी द्वारा लिखित यह ग्रन्थ प्रबुद्ध वेदप्रेमी पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है, इसका उद्देश्य है- संक्षेप में समग्र वैदिक वाङ्मय का दिग्दर्शन कराना। साथ ही सांस्कृतिक पक्ष को भी प्रस्तुत करना। इसके लिए ग्रन्थकार ने सूत्रशैली को अपनाया है। ग्रन्थकार ने इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा है कि कोई उपयोगी तथ्य छूटने न पावे। नवीनतम अनुसंधानों को भी इसमें समाविष्ट किया गया है। भारतीय और पाश्चात्य विद्धानों ने वैदिक वाङ्मय की जो महनीय सेवा की है, उसका भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

यह ग्रन्थ 13 अध्यायों में विभक्त है। इसमें वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् और 6 वेदांगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रस्तावना में वेद संबन्धी विविधविषयों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उसमें वेदों का महत्त्व, वेदों का रचनाकाल, वेदों की विविध व्याख्या-पद्धतियाँ, वेदों की अपौषेयता, आदि का विवेचन है। भारतीय विद्वानों के विचारों के साथ ही पाश्चात्त्य विद्वानों के मत का भी यथास्थान उल्लेख किया गया है।

प्रारम्भ के 6 अध्यायों में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनषिद् और वेदांगों के विषय में सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक वेद के विवेचन के अन्त में महत्त्वपूर्ण सूक्त, मन्त्र और सूक्तियों का भी उल्लेख किया गया है।

अध्याय 7 और 8 में वैदिक का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। इसमें भूगोल, सामाजिक जीवन, आर्थिक स्थिति और राजनीतिक अवस्था का परिचय दिया गया हैं। अध्याय 9 में वैदिक देवों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक देव की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख है। अध्याय 10 में वैदिक यज्ञ-प्रक्रिया का महत्त्व, आध्यात्मिक स्वरूप और विविध भागों एवं दृष्टियों के क्रिया कलाप का विवेचन है।

अन्त के तीन अध्याय परिशिष्ट रूप में हैं। अध्याय 11 में संक्षेप में वैदिक व्याकरण की प्रमुख विशेषताएँ दी गई हैं। स्वर सम्बन्धी नियम विशेष रूप से दिए हैं। संहितापाठ से पदपाठ बनाना और पदपाठ से संहितापाठ बनाने की विधि समझाई गई हैं। अध्याय 12 इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण अंश है। वेदों में आचारशिक्षा, नीतिशिक्षा आदि ही नहीं हैं, अपितु कुछ महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य भी सूत्र रूप में विद्यमान हैं। उनके निर्देशनार्थ कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकलन भी प्रस्तुत किया गया है। अध्याय 13 में वेदों में विद्यमान काव्य, सौन्दर्य के कुछ उदाहरण दिए गए हैं।

मेरी दृष्टि में इस ग्रन्थ में लेखक ने 'गागर में सागर' इस उक्ति का सफल प्रयोग प्रदर्शित किया है। ग्रन्थ का मुद्रण बहुत अच्छा है। कवर पृष्ठ भी आकर्षक है। निश्चय ही यह ग्रन्थ वेदप्रेमी पाठकों की जिज्ञासाओं को पूर्ण करने में सफल होगा। बहुत समय के बाद ऐसा अद्भुत ग्रन्थ पढ़ने को मिला है। स्वाध्याय करने वालों को यह ग्रन्थ एक हैण्ड बुक के रूप में स्वीकृत होगा। मेरी लेखक और प्रकाशक दोनों को हार्दिक बधाई और शुभकानाऐं हैं।

पुस्तक का नाम : वैदिक साहित्य एवं संस्कृति
लेखक : डॉ. कपिल देव द्विवेदी
प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन
वाराणसी - 221001
प्रथम संस्करण : 2000 ई.
मूल्य : 125 / - रु.

समीक्षक : डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री
डी. लिट्
रीडर - वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

निबन्ध भेजने वाले विद्वानों से निवेदन

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिन लेखों में शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, उनको प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाण एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये।
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अत: अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- सभी विद्वानों से अनुरोध है कि वे गुरुकुल-शोध-भारती के लिये कम्प्यूटर से टंकण कराये गये शोध-निबन्ध ही भेजें, जिससे लेख तथा उसके उद्धरणों को शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुन: प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति ही प्रकाशित करने के लिये भेजें।
- वैदिक साहित्य से सम्बन्धित शोध-लेख प्रेषित करने वाले विद्वानों से अनुरोध है कि वे मन्त्र पर उदात्त, अनुदात्तादि स्वरों को अवश्य अङ्कित करें।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आर्फ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.

विश्वविद्यालय मे प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पाथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :- ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के नाम पर ड्राफ्ट बनाकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक 1 से 12 एवं क्रमांक 18 तथा 19 पर 50 प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर 20 प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता : पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार- 249404 (उत्तरांचल)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975